विषय-सूची

—०—

पौराणिक महापुरुष

सत्यव्रती हरिश्चन्द्र

बहुत दिन हुये, सूर्यवंशी राजाओं में हरिश्चन्द्र नाम के एक अत्यन्त प्रतापशाली राजा हुये थे। वे बहुत धर्मात्मा थे। प्रजा का प्रेम उनकी रग रग में समाया हुआ था। वे सदैव न्याय और सत्य ही का सहारा लेते थे। उनके राज्य काल में न किसी को कोई कष्ट था; और न किसी के हृदय में असन्तोष। सभी अपने धर्मानुसार सुख और संतोष का जीवन व्यतीत करते थे। इसीलिये तो लोगों, का कहना था, कि हरिश्चन्द्र के समान न तो कोई राजा हुआ और न कोई भविष्य में होगा।

चारों ओर सुख और सम्पत्ति की एक लहर सी वह रही थी। जिसको देखिये, वही धर्म का अनुयायी, जिसको देखिये वही सत्य का अनुपम व्रती! राजा ने अपने धर्म और सत्य-प्रेम का रस अपनी प्रजा की नस नस में भी घोल दिया था। लोग सायं प्रातः हरिश्चन्द्र का नाम उसी प्रकार श्रद्धा से लिया करते जिस प्रकार लोग ईश्वर का स्मरण करते हैं। हरिश्चन्द्र का मन भी सदैव सुख और संतोष से जैसे ओतप्रोत सा रहा करता था।

इतना सुख और संतोष होने पर भी राजा के मन में सदैव एक वेदना उठा करती थी। राजा के कोई सन्तान न थी।

राजा जब अपने विस्तृत राज्य की ओर देख कर अपने सूने महल की ओर देखते, तब उनका मन एक तरह की पीड़ा से मथ उठता। वे सोचने लगते, मेरे बाद इस विशाल राज्य का कौन उपभोग करेगा! कौन इक्ष्वाकु वंश की कीर्ति को दुनियाँ में मिटाने से बचायेगा? किन्तु अपने वश की बात क्या? राजा का मन इस अभाव से तड़प कर रह जाता!

राजा के इस महान दुख से प्रजा भी सदैव दुखी रहा करती थी। अन्त में वशिष्ठ मुनि से राजा और प्रजा का यह दुख न देखा गया। उन्होंने सन्तान के लिये राजा को वरुणदेव की आराधना करने की संमति दी। गुरु का आदेश! राजा वरुणदेव की आराधना में लग गये। कुछ दिनों के पश्चात् वरुणदेव उन पर प्रसन्न हुये। और उन्हें इस शर्त पर एक पुत्र का वरदान दिया, कि वे पुत्र को उन्हीं के लिये बलि चढ़ावेंगे! पुत्र मुख दर्शन की लालसा! राजा ने वरुणदेव की शर्त स्वीकार कर ली।

वरुणदेव के वरदान के प्रभाव से कुछ दिनों के पश्चात् राजा के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। राजा ने उसका नाम रोहित रक्खा। जब रोहित कुछ बड़ा हुआ, तब बलि के लिये वरुणदेव राजा के सामने प्रगट हुये। किन्तु राजा ने हीला-हवाली करके उन्हें टरका दिया। इसी तरह वरुणदेव दो-तीन बार बलि के लिये आये और राजा ने उन्हें टरका दिया। अब वरुणदेव से न रहा गया। वे समझ गये, कि राजा अपने पुत्र-मोह में ग्रस्त होने ही के

कारण मेरे साथ ऐसी हीला-हवाली कर रहे हैं। वरुणदेव का मन विक्षुब्ध हो उठा। उन्होंने राजा को शाप दे दिया।

वरुणदेव की अप्रसन्नता! राजा जलोदर रोग से अत्यन्त पीड़ित हो गये। अब राजा को चेत हुआ। क्या करें, पुत्र का बलिदान न करने पर उनके जीवन का ही सर्वनाश होना चाहता है! उन्होंने पुत्र-बलिदान की तैयारी आरंभ कर दी। इधर नारद जी के कानों में भी यह समाचार पड़ा। नारद जी की विचित्र प्रकृति ही तो ठहरी। वे एक दिन रोहित के पास जाकर कहने लगे, 'रोहित! देखता नहीं अपने पिता का अन्याय! वे अपनी स्वास्थ्य-रक्षा के लिये तेरा बलिदान करने जा रहे हैं। और कैसा क्रूर कर्म, कैसी भयानक निष्ठुरता!! रोहित, यदि तू मेरी बात मान तो यहाँ से छिपकर किसी जंगल में भाग जा। इससे तेरा अबोध जीवन बरबाद होने से बच जायगा।'

जीवन का मोह किसे नहीं होता? नारद की बात रोहित की समझ में आगई। वह चुपके से वन की ओर भाग गया! बलिदान की तैयारियाँ ज्यों की त्यों पड़ी ही रह गईं। राजा चिन्ता में पड़ गये। सोचने लगे, क्या करें? कैसे अपने जीवन की रक्षा करें? मंत्रियों ने राजा को सलाह दी कि किसी खरीदे हुये लड़के का बलिदान करके व्रत का पालन किया जाय। राजा को भी यह युक्ति अत्यन्त अच्छी लगी। बस, फिर क्या! बलिदान के लिये एक दूसरे लड़के की खोज की जाने लगी।

संसार में क्या नहीं मिलता ? सभी कुछ तो है पर पास में रुपयों की मोहक शक्ति होनी चाहिये। राजा को भी इसी शक्ति के सहारे एक क्रूर ब्राह्मण मिल गया। उसके तीन लड़के थे। एक का नाम 'शुनो लांगूल' दूसरे का 'शुनःशेय' और तीसरे का 'शुन पुच्छ' था। ब्राह्मण 'शुनो लांगूल' को और उसकी ब्राह्मणी 'शुनः पुच्छ' को अधिक प्यार करती थी ! अब रह गया 'शुनःशेय'। वही रुपयों और स्वर्ण शक्ति के लोभ में राजा के हाथों में सौंप दिया गया !

बलिदान की तैयारियाँ होने लगीं। एक व्यक्ति के लिये एक दूसरे व्यक्ति के प्राणों का होम किया जाने लगा। शुनःशेय एक खम्भे से जकड़ दिया गया। इस यज्ञ में बड़े-बड़े ऋषि और मुनि भी सम्मिलित हुये थे। विश्वामित्र जी तो स्वयं होता बन कर आये थे। विश्वामित्र जी से यह काण्ड न देखा गया। उनका हृदय करुणा से तड़प उठा। उन्होंने शुनःशेय को अग्निदेव की प्रार्थना करने की आज्ञा दी। शुनःशेय मन ही मन अग्निदेव की प्रार्थना करने लगा। अग्निदेव प्रसन्न हुये। उनकी प्रसन्नता से राजा का रोग दूर होगया, और शुनःशेय के प्राणों को भी छुटकारा मिला।

अब न राजा के मन में कोई पीड़ा रही, न कोई असन्तोष ही रहा। राजा सुख और संतोष के साथ अपना जीवन व्यतीत करने लगे। प्रजा के हृदय में भी जैसे आनन्द की लहर सी बह रही थी। इसी तरह कुछ दिन बीत गये। कुछ दिनों के पश्चात् राजा ने

राजसूय यज्ञ किया। इस यज्ञ में वशिष्ट जी होता बनाये गये। यज्ञ हुआ और बड़े अच्छे ढंग से हुआ। लोगों को खूब दान-दक्षिणा दी गयी। वशिष्ट जी को भी बहुत सी सम्पत्ति प्राप्त हुई। फिर क्या पूछना ? जिसे देखिये, वही राजा की सराहना करने लगा.। जिसे देखिये, वही उनकी गुणों की गाथा गाने लगा ! चारों ओर राजा की कीर्त्ति और उनके यश की एक लहर सी बह चली।

संयोग की बात ! वशिष्ट जी यज्ञ में मिली हुई सब सम्पत्ति लेकर अपने आश्रम की ओर लौट रहे थे। रास्ते में उन्हें विश्वामित्र जी मिल गये, विश्वामित्र को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने पूछा, महाराज यह सम्पत्ति आपको कहाँ से प्राप्त हुई ? वशिष्ट जी साधारण प्रकृति के मनुष्य ! हरिश्चन्द्र के राजसूय यज्ञ की चर्चा कर, लगे उनका गुणगान करने। उनके गुणगान से विश्वामित्र का हृदय जल भुन उठा। बात यह थी, कि इस यज्ञ में विश्वामित्र जी होता नहीं बनाये गये थे। विश्वामित्र जी से न रहा गया ! उन्होंने कहा, आप व्यर्थ ऐसे अभिमानी और क्रूर राजा की प्रशंसा कर रहे हैं। जान पड़ता है, उसकी इस विपुल सम्पत्ति ने आपकी बुद्धि को माया में डाल दिया है।

किन्तु; वशिष्ट जी क्यों मानने लगे। वे विश्वामित्र की बातों से प्रभावित होकर और भी अधिक हरिश्चन्द्र की सराहना करने लगे। अब तो विश्वामित्र जी के तन-बदन में जैसे एक भयंकर आग सी लग गई। उन्होंने कहा, अच्छा मैं देखता हूँ हरिश्चन्द्र की सत्यवादिता। यदि मैं उसकी सत्यवादिता को भ्रष्ट न करदूँ

तो मेरा नाम विश्वामित्र नहीं। वशिष्ट जी ने एक बार उनके लिये विश्वामित्र जी को सावधान किया। किन्तु वे क्यों मानने लगे! उनके क्रोध की भयंकर चिनगारियाँ निकले लगीं! यदि उनका वश चलता तो वे उसी समय हरिश्चन्द्र को जलाकर खाक कर देते।

विश्वामित्र की प्रकृति विचित्र थी। वे अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिये तपस्या में संलग्न हो गये। उनकी तपस्या के प्रभाव से कुछ ऐसे आदमियों का आविर्भाव हुआ, जो सब को अत्यन्त कष्ट पहुँचाया करते थे। इन आदमियों का उपद्रव इतना बढ़ा कि प्रजा अत्यन्त व्याकुल हो उठी। राजा के कानों में भी इन उपद्रवों का समाचार पड़ा। वे उन्हें दण्ड देने के लिये निकल पड़े। कुछ दूर जाकर वन में उन्हें उपद्रवियों का झुण्ड दिखाई दिया। राजा ने उनका पीछा किया। किन्तु वे कुछ दूर जाकर अदृश्य हो गये। जब राजा घर लौटने लगे, तब उन्हें रास्ता ही भूल गया। वह एक नदी के किनारे बैठ कर सोचने लगे, क्या करें? कैसे राजधानी की ओर लौटें? रास्ते का तो कहीं पता नहीं! इसी समय राजा को एक हिरन दिखाई पड़ा। उन्होंने हिरन का पीछा किया, किन्तु वह हिरन भी कुछ दूर जा कर अदृश्य हो गया।

राजा थक गये थे। वे एक शिव मन्दिर में बैठ कर विश्राम करने लगे। वहीं उनका मंत्री भी रानी के सहित आ पहुँचा। तीनों आपस में सप्रेम बातचीत कर ही रहे थे, कि वहाँ

दो सुन्दरी स्त्रियाँ आ पहुँचीं। वे दोनों आते ही राजा के सामने नाचने और गाने लगीं। जब राजा ने प्रसन्न होकर उनसे पूछा, कि तुम दोनों क्या चाहती हो, तब दोनों ने उत्तर दिया। महाराज आप रानी को छोड़ कर हम लोगों के साथ अपना विवाह कर लें। अभी राजा कुछ उत्तर ही न दे पाये थे, कि मंत्री ने उन्हें बाहर निकल जाने का आदेश दे दिया। दोनों विलाप करती हुई विश्वामित्र जी के पास पहुँचीं। विश्वा-मित्र जी सब हाल सुनकर आग-बबूला होगये। वे राजा को गालियाँ देते हुये उनके पास पहुँचे। किन्तु रानी की प्रार्थना के सम्मुख उनका कुछ वश न चला। वे अपने क्रोध को अपने हृदय में ही दबा कर वहाँ से लौट आये।

किन्तु विश्वामित्र जी अब तो प्रतिज्ञा से पीछे हटने वाले न थे। उनका एक वार खाली गया तो इससे क्या ? अब उन्होंने एक दूसरा स्वरूप धारण किया। वे एक ब्राह्मण का वेश बना कर वन में ही राजा के समीप पहुँचे। उन्होंने राजा से कहा, महाराज मेरे लड़के का विवाह है। इसलिये मैं आपसे धन माँगता हूँ। मैंने सुना है, कि आप अपने याचकों को अपने दरवाज़े से खाली नहीं लौटालते।'

राजा ने उत्तर दिया, हाँ यह ठीक है ब्राह्मण ! किन्तु यहाँ मेरे पास क्या है ? यदि तुम राजधानी में आओ, तो मैं तुम्हारी इच्छा की पूर्ति कर सकता हूँ।

जब राजा अपनी राजधानी में लौटे, तब उन्होंने उसी ब्राह्मण को याचक के रूप में अपने सामने पाया। ब्राह्मण ने कहा, महाराज आप अपना सारा राज और सिंहासन मेरे लिये छोड़ दें। राजा हरिश्चन्द्र सत्यप्रेमी ठहरे! उन्होंने एक क्षण में सिर का मुकुट ब्राह्मण के मस्तक पर रख दिया। अब तो ब्राह्मण ने एक दूसरा अभिनय किया। उसने राजा से कहा, महाराज! इतने बड़े दान की दक्षिणा भी बहुत बड़ी होनी चाहिए। राजा चिन्ता में पड़ गये। सोचने लगे, क्या करूँ? ब्राह्मण को कैसे दक्षिणा दूँ? अब राज और राज-कोष पर मेरा अधिकार नहीं? इधर मेरे पास स्त्री-पुत्र और अपने शरीर के अतिरिक्त कुछ है भी नहीं। अन्त में वे दुखी होकर वन में चले गये। नगर निवासियों और प्रजा को जब यह बात मालूम हुई तब सब बहुत दुखी हुये। चारों ओर विश्वामित्र की निन्दा होने लगी।

किन्तु विश्वामित्र को इस बात का क्या डर? वे तो राजा को सत्य से विचलित करने पर तुले हुये थे। जब राजा रानी सहित वन में जा रहे थे, तब उन्हें फिर विश्वामित्र मिले। विश्वामित्र जी ने राजा से ताने के स्वर में कहा, महाराज बिना दक्षिणा दिये हुये आप कहाँ जा रहे हैं! यदि इतने विस्तृत राज को दान में दे देने से आपके मन में कुछ दुख उत्पन्न हुआ हो तो आप इसे फिर से ले लें। मैं किसी के मन को अधिक दुखी नहीं करना चाहता।

सत्यव्रती महाराज हरिश्चन्द्र विश्वामित्र की इस बात को कैसे बर्दाश्त कर सकते थे ? उन्होंने उत्तर दिया—क्या आप नहीं जानते, कि मैं सूर्यवंशी क्षत्रिय हूँ। मैंने जो कुछ किया है, अपनी प्रसन्नता से किया है और आपको जो कुछ कहा है, वह प्रसन्नता-पूर्वक दूँगा। यद्यपि यह सच है, कि आपकी दक्षिणा के लिये मेरे पास पैसे नहीं, किन्तु स्त्री, पुत्र और अपना शरीर तो है। मैं उसे ही बेंच कर आपको दक्षिणा की रकम दूँगा। किन्तु इसके लिये आपको मुझे कुछ समय देना चाहिये।

विश्वामित्र शान्त हो गये। किन्तु उनके मन की जलन दूर न हुई। राजा, रानी और राजकुमार को साथ लेकर काशी की ओर चल दिये। गर्मी के दिन थे, दोपहर का समय। आकाश से आग की प्रचण्ड धारा सी बरस रही थी। भूमि क्या थी, मानों कोई उत्तप्त तवा। किन्तु फिर भी महाराज हरिश्चन्द्र को चिन्ता नहीं! राजकुमार और रानी के पैरों में चलते चलते छाले पड़ गये थे, भूख और भयंकर प्यास से उनके प्राणों के अन्दर एक व्याकुलता सी दौड़ रही थी। किन्तु फिर भी वे शान्ति और सुख के साथ महाराज हरिश्चन्द्र के साथ ही साथ काशी की ओर बढ़े जा रहे थे। क्यों न हो ? आखिर वे महाराज हरिश्चन्द्र के ही जीवन के सहचर थे न !

तीनों प्राणी शान्ति और सुख के साथ आगे बढ़े जा रहे थे। इसी समय ब्राह्मण का रूप धारण करके विश्वामित्र जी फिर महाराज हरिश्चन्द्र के पास पहुँचे। उन्होंने महाराज हरिश्चन्द्र से

कहा—राजन् मेरी स्त्री गर्भवती है। मेरे साथ एक बच्चा भी है। हम लोगों को धूप की प्रचण्डता के कारण रास्ता चलने में अत्यन्त कठिनाई हो रही है। अतएव यदि आप लोग अपने जूते दे देते तो बड़ा अच्छा होता।

सत्य और धर्म से प्रेम करने वाले हरिश्चन्द्र! वे भला दूसरों का दुख कैसे देख सकते थे? उन्होंने अपने और राजकुमार तथा रानी के जूते उतरवा कर ब्राह्मण के हवाले कर दिये। आकाश पर निदाघ का प्रचण्ड सूर्य और उसके नीचे सूर्य वंश का यह धार्मिक परिवार! मनुष्य क्या, चिड़ियाँ तक आराम से अपने घोंसले में सोई हुई थीं। किन्तु उनके मन में विश्राम की तनिक भी भावना नहीं! वे भयंकर धूप और तपन को शिर पर झेलते हुये आगे बढ़े ही जा रहे थे। अचानक राजकुमार मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा। रानी से कुमार की यह हालत न देखी गई। वे भी मूर्च्छित हो गई। राजा कुछ दुखी हुये। ऋषि महाराज ब्राह्मण का भेष धारण करके फिर सामने प्रगट हुये। उन्होंने जल से राजा की सहायता करनी चाही। किन्तु राजा ने यह कह कर उनकी सहायता अस्वीकार कर दी, कि मैं क्षत्रिय हूँ; मुझे दूसरों की सहायता की आवश्यकता नहीं।

विश्वामित्र ने राजा को सत्य से डिगाने के लिये क्या नहीं किया! जब उनका किसी तरह वश न चला, तब उन्होंने वन में आग लगा दी। आग जलने लगी। चारों ओर आग ही आग;

हो गई। महाराज हरिश्चन्द्र बहुत ही घबड़ाये। इसी घबड़ाहट में रानी का साथ छूट गया। रानी रास्ता भूल गईं। वे एक स्थान पर बैठकर मन ही मन चिन्ता करने लगीं। विश्वामित्र को अच्छा अवसर हाथ लगा। उन्होंने दो मुर्दे रानी के समीप लाकर कहा, यह तुम्हारे पति और पुत्र की लाश है। रानी विलाप करने लगीं और अपने पति के शव के साथ सती हो जाने की तैयारियाँ करने लगीं। अब फिर विश्वामित्र ने चाल चली। उन्होंने रानी से कहा, रानो, संध्या हो गई है। यह समय सती की विधि के विरुद्ध है। रानी क्या करें, विवश हो गईं। वे रात भर दोनों मुर्दों के समीप बैठकर रोती रहीं। रात में सहसा एक बाघ आया, और रानी को बिना नुक़सान पहुँचाये ही वह दोनों मुर्दों को लेकर भाग गया। रानी की वह रात किसी तरह कटी। प्रभात होते ही महाराज हरिश्चन्द्र उन्हें ढूँढ़ते हुये कुमार के साथ फिर उनसे आ मिले, और तीनों सत्यव्रती वहाँ से फिर काशी की ओर चल दिये।

कुछ दिनों के पश्चात् महाराज हरिश्चन्द्र काशी पहुँचे। अब उन्हें यह चिन्ता सताने लगी, कि मैं ब्राह्मण की दक्षिणा कैसे अदा करूँ? एक दिन वे इसी भयानक चिन्ता में ग्रस्त होकर मन ही मन विचार कर रहे थे! रानी से राजा की यह उदासीनता न देखी गई। उन्होंने कहा, महाराज चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। आप धर्म और सत्य की रक्षा के लिये मुझे दासी के रूप में किसी के हाथ बेंच दें। रानी की बात सुन कर

महाराज हरिश्चन्द्र का कलेजा चीत्कार कर उठा। किन्तु इसके अतिरिक्त और दूसरा उपाय ही क्या था ?

राजा विवश होकर रानी और कुमार के साथ बाजार में पहुँचे। उन्होंने लोगों को संबोधित करके कहा, भाइयो जिस किसी को दासी की आवश्यकता हो, वह मुझे मुँहमाँगा दाम देकर मुझसे खरीदे। राजा की इस बात को सुनकर लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। लोगों ने एक विचित्र दृष्टि से राजा को देख कर उनसे पूछा, भाई तुम कौन हो ? तुम क्यों अपनी स्त्री को इस प्रकार बाज़ार में बेंच रहे हो ?

राजा इसका क्या उत्तर देते ! उनके पास उत्तर ही क्या था, उन्होंने छाती पर शिला रखकर उत्तर दिया, मैं एक चाण्डाल के अतिरिक्त और कुछ नहीं। यदि चाण्डाल न होता, तो अपनी स्त्री को इस भाँति बाज़ार में कैसे बेंचता ? राजा की इन बातों का लोगों के हृदय पर क्या प्रभाव पड़ा, यह कौन जाने ! किन्तु काल कौशिक नाम का एक धनी ब्राह्मण आगे बढ़ा, और अपने राजा की इच्छानुसार स्वर्ण मुद्रायें देकर रानी को खरीद ले गया। वह भयानक दृश्य ! उसकी ज़रा कल्पना तो कीजिये। माता अपने पुत्र से विलग हो रही थी ! उस समय रानी का हृदय कितना दुखी रहा होगा, कितना वेदनाशील रहा होगा, क्या कोई उसकी कल्पना कर सकता है !

जब रानी को लेकर ब्राह्मण चलने लगा, तब कुमार दौड़कर अपनी माता से चिपट गया। रानी से न रहा गया। उनका हृदय

दुख से मथ सा उठा। उन्होंने ब्राह्मण से हाथ जोड़ कर कहा, महाराज यदि आप इस बालक को भी खरीद लें तो आपकी मुझ पर बड़ी कृपा हो। ब्राह्मण को दया आ गई। उसने उचित स्वर्ण मुद्रायें देकर बालक को भी खरीद लिया। फिर क्या! फिर तो रानी राजा की परिक्रमा कर कुमार सहित ब्राह्मण के साथ चलने के लिये तैयार हो गईं। राजा का कलेजा काँप उठा। उनके प्राणों के अन्दर एक बेकलीसी दौड़ गई। वे एक विक्षिप्त मनुष्य की भाँति रानी की ओर देखने लगे। किन्तु इससे क्या होता? रानी दासी के रूप में अब तो ब्राह्मण की हो चुकी थी। ब्राह्मण राजा के दुःख और उनकी व्याकुलता पर ध्यान न दे कर रानी और कुमार को ले कर अपने घर की ओर चलता बना।

राजा अभी वियोग के इस गहरे सागर में निमग्न ही थे कि ब्राह्मण रूपधारी विश्वामित्र जी फिर वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने राजा से अपनी दक्षिणा माँगी। राजा ने उत्तर दिया, स्त्री और पुत्र के वेंचने से जो संपत्ति प्राप्त हुई है, उसे ले जाइये। किन्तु विश्वामित्र को उतने ही से तो संतोष होने वाला नहीं। उन्होंने कहा—राजन् यह दक्षिणा तो बहुत थोड़ी है। आपने कहा था, कि मैं राजसूय यज्ञ करने का संपूर्ण धन आपको दूँगा!

हाँ कहा था—राजा ने उत्तर दिया—और अब भी कहता हूँ। मेरा शरीर बच गया है, मैं उसे बाज़ार में वेंचकर आपकी दक्षिणा की रकम पूरी करूँगा। किन्तु इसके लिये मुझे कुछ समय और चाहिये।

विश्वामित्र क्या करते ? शान्त होकर चले गये। महाराज हरिश्चन्द्र "किसी को दास की आवश्यकता है, दास की," यह कहते हुये बाज़ार में आगे बढ़े। उनकी बात सुनकर एक चाण्डाल उनके समीप आया। वास्तव में वह चाण्डाल नहीं था। वे वास्तव में धर्मराज थे। किन्तु उस समय तो सभी जैसे हरिश्चन्द्र की परीक्षा ले रहे थे। चाण्डाल ने आगे बढ़कर हरिश्चन्द्र से कहा—मेरा नाम प्रवीर वीरबाहु है। मैं चाण्डाल हूँ। मैं दास के रूप में तुम्हें क्रय करना चाहता हूँ। राजा क्या करते! कोई दूसरा चारा तो था नहीं! प्रसन्नतापूर्वक चाण्डाल के हाथों बिक कर ब्राह्मण के ऋण से मुक्त हो गये। इससे यदि राजा के मन को कुछ संतोष और सुख प्राप्त हुआ तो आश्चर्य क्या!

प्रवीर वीरबाहु श्मशान का स्वामी था। उसने हरिश्चन्द्र को श्मशान में रहने ही का काम सिपुर्द किया। एक तो चिन्ता, दुख, व्याकुलता, दूसरे श्मशान के भयानक दृश्यों का सामना। महाराज हरिश्चन्द्र का शरीर सूख कर काँटा हो गया। श्मशान की चिताओं से उठे हुये धुँये के कारण उनका शरीर अधिक काला भी हो गया। वाह रे सत्य और धर्म की परीक्षा! तू न जाने अभी हरिश्चन्द्र को किस दिशा की ओर ले जायगी!

एक वर्ष का लम्बा समय बीत गया था। किन्तु रानी और कुमार को महाराज हरिश्चन्द्र की कोई खबर न मिली। दोनों सदैव चिन्तित रहा करते थे। रानी का शरीर भी सूख कर काँटा हो गया। किन्तु फिर भी विपत्तियों का अन्त नहीं! एक दिन

जब रोहिताश्व फुलवारी में अपने स्वामी के लिए फूल लेने गया तब उसे साँप ने काट लिया। उसके साथ ही और भी कई लड़के थे। रोहिताश्व वहीं मर गया। लड़के वहाँ से भागते हुये रानी के पास गये।

यह अभिनय भी विश्वामित्र की कृपा ही से हुआ था। इससे यदि विश्वामित्र को क्रूर हृदय वाला राक्षस कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी लड़कों से, रोहिताश्व की मृत्यु का हाल सुन कर रानी जैसे उन्मत्त सी बन गई। वह छाती पीट पीट कर रोने लगी। किन्तु फिर भी अपने पुत्र के शव के पास न जा सकी। बिकी हुई दासी थी न! स्वामी की आज्ञा ही उसके लिये सब कुछ थी। बिना स्वामी की आज्ञा के वह भूमि पर एक पग भी न उठा सकती थी। हाय रे क्रूर संसार! तू स्वत्व और सत्ता के अभिमान में चाहे जो न करा दे!

जब ब्राह्मण घर आया, तब उसने रानी से कहा—जा, अपने पुत्र का रात में अग्नि संस्कार कर आ। सवेरा होने पर जब चाण्डाल तुझसे कर माँगने लगेगा तब तू कहाँ से देगी? रानी क्या करे! छाती पर पत्थर रखकर पुत्र की लाश लेकर श्मशान पर गई। लकड़ियाँ एकत्र कर दाह संस्कार की तैयारी करने लगी। सहसा हरिश्चन्द्र की दृष्टि रानी के ऊपर पड़ी। वे दौड़ कर उसके पास गये। उन्होंने निर्दयता से लकड़ियों को इधर-उधर बिखेर कर कर्कश स्वर में रानी से पूछा, तू कौन है, जो बिना कर चुकाये श्मशान में मुर्दे की लाश को

जलाना चाहती है ? मैं विना कर लिये हुये तुझे दाह-संस्कार न करने दूँगा।

गरीब रानी ! टैक्स देने के लिये उसके पास था क्या ? उस का सब कुछ तो लुट चुका था ! अपने आँखों में आँसू भर कर उसने कहा, मेरे पास कुछ नहीं है। मुझे दाह-संस्कार करने दीजिये। यह कह कर रानी व्याकुल हो गई। वह एक विक्षिप्ता की भाँति रो रो कर कहने लगी; महाराज हरिश्चन्द्र ! आज आपके पुत्र की यह दशा ! आज उसके दाह-संस्कार के लिये मेरे पास क़फ़न का टुकड़ा नहीं ! हा बेटा, आज तुझे यह किस भयानक पाप का फल भोगना पड़ रहा है। क्या पुण्य और धर्म का संसार में ऐसा ही परिणाम हुआ करता है। जिन महाराज हरिश्चन्द्र ने धर्म और सत्य की सेवा के लिये अपना सब कुछ बलिदान किया, उनके लड़के की यह दुरवस्था ! तब तो पुण्य और धर्म की कोई मर्यादा नहीं ! सभी झूठे हैं, सभी असत्य हैं।

रानी की बातों को सुनते ही महाराज हरिश्चन्द्र को मूर्च्छा आ गई। वे भूमि पर गिर पड़े। जब होश हुआ, तब लगे पुत्र की दुरवस्था पर विलाप करने। पुत्र तो मरा ही था। पति को इस रूप में देख कर रानी के शोक की सीमा न रही। वह भी मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ी। जब उसे होश हुआ, तब महाराज हरिश्चन्द्र ने उसे सान्त्वना प्रदान करते हुये कहा, प्रिये ! आकुल होने से काम न चलेगा। पुत्र का

दाह संस्कार तो करना ही पड़ेगा। किन्तु बिना टैक्स चुकाये नहीं। उधर टैक्स देने के लिये तुम्हारे पास कुछ है नहीं। इस लिये तू यहीं ठहर। मैं मालिक के पास जाकर तेरे लिये आज्ञा माँग लाता हूँ।

महाराज हरिश्चन्द्र रानी को श्मशान में छोड़ कर अपने मालिक के पास चले गये। विश्वामित्र का क्रूर स्वभाव ! उन्हें अपने स्वभाव का अभिनय करने के लिये फिर अवसर मिला। वे एक ब्राह्मण के वेश में फिर श्मशान में प्रकट हुये और लगे रानी को भूत-पिशाचों की बातें बता कर डराने। रानी अत्यन्त भयभीत हो उठी। वह अपने पुत्र की लाश लेकर समीप के एक मन्दिर में चली गई। मन्दिर में रानी मूर्च्छित होकर सो गई। अवसर पाकर विश्वामित्र जी ने रोहित की अंतड़ियाँ निकाल लीं और सारी अँतड़ियाँ रानी के मुँह पर डाल दीं। इधर यह किया, और उधर शंख बजा कर यह ढिंढोरा सा पीट दिया कि श्मशान में एक राक्षसी बैठी हुई है। वह बच्चों को मार कर खाया करती है। यदि वह शीघ्र मार न डाली जायगी, तो न जाने शहर के कितने बच्चों को मार कर खा जायगी !

बस फिर क्या ? झुण्ड के झुण्ड आदमी राक्षसी को देखने के लिये श्मशान में एकत्र होने लगे। उसके मुँह पर अँतड़ियाँ देख कर लोगों ने सचमुच उसे राक्षसी समझ लिया। चाण्डाल के कानों में भी यह खबर पड़ी। अभी महाराज हरिश्चन्द्र रास्ते ही में थे। जब वे चाण्डाल के पास पहुँचे, तब चाण्डाल ने उन्हें

यह आदेश दिया, कि श्मशान के मन्दिर में एक राक्षसी बैठी हुई है। जाओ उसे मार डालो।

महाराज हरिश्चन्द्र चिन्ता में पड़ गये। वे आये थे क्या कहने, और आदेश मिल गया क्या? उन्होंने किसी स्त्री को मारने से अस्वीकार कर दिया, किन्तु चाण्डाल का आदेश था विवश होगये। हाथ में तलवार लेकर श्मशान में पहुँचे। उन्हें क्या मालूम था, कि रानी ही राक्षसी के रूप में घोषित की गई है। जब उन्होंने रानी ही को राक्षसी के रूप में देखा, तो उनके हाथ से तलवार छूट गई। वे मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़े। रानी की तो बड़ी भयानक दशा हो रही थी। वह पागलों की तरह क्रन्दन कर रही थी। कभी वह राजा की ओर देखती और कभी अपने पुत्र की चीड़ी फाड़ी लाश की ओर। जब महाराज हरिश्चन्द्र की मूर्च्छा भंग हुई, तब वह शोकावेग में कहने लगी, महाराज बताइये, यह सब क्या है? क्या यही, पुण्य है, क्या यही सत्य है, क्या यही धर्म है! यदि हाँ, तब तो यह कहना पड़ेगा, कि संसार में यह सब आडम्बर मात्र है, यह सब मनुष्यों के छलने के लिये है।

राजा ने रानी को समझाया। जब रानी को कुछ सान्त्वना मिली, तब उसने धैर्य के साथ कहा, अच्छा महाराज, अब सत्य और धर्म की रक्षा के लिये मेरे सिर पर तलवार चलाइये। मैं मरने के लिये तैयार हूँ। और साथ ही ईश्वर से यह प्रार्थना करती हूँ, कि मुझे हर जीवन में महाराज हरिश्चन्द्र के समान

सत्यव्रत पति, रोहिताश्व के समान पुत्र और विश्वामित्र जी के समान याचक मिले।

रानी राजा के सामने बैठ गई। धैर्य और संतोष की मूर्ति बन कर महाराज हरिश्चन्द्र रानी के ऊपर तलवार चलाने के लिये तैयार होगये। जैसे ही उन्होंने तलवार उठाई, कि उनकी आँखों के सामने एक अद्‌भुत प्रकाश छिटक पड़ा। उन्होंने आँखें खोल कर देखा तो, सामने इन्द्र, विश्वामित्र और धर्मराज दिखलाई दिये। धर्मराज ने आगे बढ़ कर कहा, अब बस कीजिये राजन्! बहुत हो चुका। आपने अपने धर्म और सत्य की शक्ति से तीनों लोकों को अपने वश में कर लिया है। आपकी सत्य शक्ति को देख कर विश्वामित्र जी भी हार गये। आप धन्य हैं। संसार में लोग आपके नाम की पूजा करेंगे।

इसीसमय आकाश से अमृत-वर्षा हुई। रोहिताश्व उठ कर खड़ा होगया। महाराज हरिश्चन्द्र को फिर राज्य प्राप्त हुआ। उन्होंने अपने सत्य और धर्म के प्रताप से राक्षसी वृत्तियों का संहार सा कर दिया! उनका वह सत्य-प्रेम! क्या उसकी तुलना कभी संसार में हो सकेगी?

जीमूत वाहन

दयावीर जीमूत वाहन का नाम किसने न सुना होगा? इन्होंने अपनी दया और अपने धर्म-शक्ति से संसार में अपनी

एक अमिट कहानी सी लिख दी है। वह कहानी, कितनी पवित्र और कितनी सुन्दर है, उसे पढ़ कर इतने दिनों के बाद भी हृदय श्रद्धा और भक्ति से भर जाता है।

जीमूत वाहन के पिता का नाम जीमूत केतु था। वे एक अलौकिक पुरुष थे। उनका सारा समय पूजा-पाठ ही में व्यतीत होता था। उनकी रग रग में दया और सहानुभूति समाई हुई थी। उन्हीं के समान उनके लड़के जीमूत वाहन भी थे। योग्य और उच्च विचार वाले पिता का पुत्र क्यों न उच्च विचार वाला हो? उन्हीं की तरह जीमूत वाहन भी दैवी गुणों से सम्पन्न थे। इनके समान पिता का आज्ञाकारी पुत्र शायद ही कोई संसार में मिले। वे पिता की आज्ञा तो मानते ही थे, उनका उच्छिष्ट खाना भी खाते थे। बिना इसके उनका काम ही न चलता था। वे इसी को अपने जीवन का व्रत मानते थे।

जब जीमूतकेतु अत्यन्त वृद्ध हो गये, तब उन्होंने राज-भार अपने पुत्र के कंधे पर छोड़ कर वन में जाने का संकल्प किया। किन्तु जीमूत वाहन को यह कैसे स्वीकार हो सकता था! वे पिता के दर्शन के बिना कैसे अपने जीवन की नाव स्थिर रख सकते थे? उन्होंने भी पिता के साथ ही वन जाने का संकल्प किया। पिता पुत्र दोनों राज्य मंत्रियों को सौंप कर स्त्री-पुत्र के साथ बन को चले गये।

इन लोगों ने वन में जाकर एक स्थान में अपना आश्रम बनाया। इनके अतिरिक्त वहाँ और भी साधु-ऋषि रहा करते थे।

स्थान तो वह अत्यन्त सुन्दर था, किन्तु वहाँ भोजन सामग्रियों की कमी थी। कुछ दिनों के बाद ही लोगों को कष्ट होने लगा। जीमूत केतु ने जीमूतवाहन से कहा, आश्रम के लिये किसी दूसरे स्थान की खोज करो। यहाँ खाने-पीने का कष्ट लोग कब तक बर्दाश्त कर सकेंगे ?

पिता के आदेश से जीमूत वाहन एक दूसरे स्थान की खोज में निकल पड़े। उनके साथ उनका बाल सहचर आत्रेय भी था। दोनों में बड़ी मित्रता थी। दोनों में से कोई किसी से अपने हृदय की बात न छिपाता। दोनों तरह तरह की बातें करते हुये वन में आगे बढ़ने लगे। कुछ दूर जाने पर उन्हें प्राकृतिक छटाओं से भरा हुआ एक स्थान दिखाई दिया। मलयाचल की तलहटी के उस अलौकिक स्थान को देखकर दोनों एक साथ ही मुग्ध हो गये। वहाँ की शीतल और सुगंधित समीर, वहाँ के झरनों का कल कल मनोहर शब्द दोनों के हृदयों में आनन्द उत्पन्न करने लगा। जीमूत वाहन वहीं आश्रम बनाना निश्चय कर अपने मित्र के साथ एक स्थान पर बैठ गये।

सहसा उनके दाहिने अंग फड़कने लगे। उनके रोम रोम में एक प्रसन्नता सी उमड़ पड़ी। उन्होंने अपनी दृष्टि को दूसरी ओर घुमा कर देखा, हरी हरी घासों की राशि पर चेष्टाहीन मृगों का एक दल बैठा था। वह ऐसा तन्मय था, मानो उसके प्राण किसी अकथनीय आनन्द का अनुभव कर रहे हों। उन्हें ऐसा जान पड़ा, मानो सभी हरिण किसी मीठे संगीत का आनन्द ले रहे

हों। उनके साथी आत्रेय ने भी इसी का अनुमोदन किया। बस फिर क्या, दोनों हरियों के झुण्ड की ओर धीरे-धीरे बढ़ने लगे।

कुछ दूर जाने पर उन्हें एक संगीत लहरी भी सुनाई देने लगी। वे उसी के सहारे आगे बढ़ने लगे। कुछ दूर जाने पर उन्होंने देखा, एक मन्दिर में एक स्त्री वीणा लेकर बैठी हुई है वह धीरे-धीरे गारही है। वह संगीत के द्वारा देवी से मन चाहा वरदान प्राप्त करना चाहती है। एक और दूसरी स्त्री उसके पास ही खड़ी है। वह गाने वाली स्त्री को देवी की कठोरता बतला कर संगीत बन्द करने के लिये कहती है, किन्तु वह उस पर ख्याल ही नहीं करती। जीमूत वाहन कुछ दूर पर रुक कर यह मोहक दृश्य देखने लगे।

उन दोनों स्त्रियों की बातों से जीमूत वाहन को ऐसा मालूम हुआ, मानो गानेवाली स्त्री अविवाहिता है। बस फिर क्या! दोनों मन्दिर की ओर चल दिये। मन्दिर के पास जा कर जीमूत वाहन ने भीतर की ओर झाँका। उसका विरागी मन उसके लावण्य पर मुग्ध होगया। वे अपने मित्र आत्रेय से उसकी सराहना करने लगे। आत्रेय जीमूत वाहन के वैराग्य को भली भाँति जानता था। उसे जीमूत वाहन की उस आसक्ति से अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उसने जीमूत वाहन को मन्दिर के भीतर कर दिया। वहाँ दोनों का परिचय हुआ, और दोनों के हृदय में प्रेम का एक अंकुर भी जम गया।

अब तुम यह जानना चाहते होगे, कि यह सुन्दरी स्त्री थी कौन.? वह राजा विश्वावसु की कन्या थी। राजा की दो सन्ताने थीं। एक लड़का, और एक लड़की। लड़की का नाम मलयवती और लड़के का नाम मित्रावसु था। राजा मलयवती का विवाह जीमूत वाहन से करना चाहता था। मलयवती भी जीमूत वाहन के लिये ही मन्दिर में देवी से प्रार्थना कर रही थी! सौभाग्य से दोनों एक दूसरे से मिल गये! भगवान की इच्छा ही तो है। जब राजा विश्वावसु को यह बात मालूम हुई, कि जीमूत वाहन आज कल मलयाचल की तराई में रहते हैं, तो उसने अपने लड़के मित्रावसु को उनके पास भेंट करने के लिये भेजा।

उधर अब जीमूत वाहन का हाल सुनो। उनके हृदय पर राजकुमारी के सौन्दर्य का सिक्का जम ही चुका था। वे प्रायः राजकुमारी के लिये अत्यन्त दुखी रहा करते। मलयवती की भी यही दशा थी। दोनों एक दूसरे के वियोग में बड़े दुख की जिन्दगी बिता रहे थे। अन्त में जीमूत वाहन अपने मित्र आत्रेय के साथ मलयवती की खोज में निकल पड़े। संयोग से वन में एक लता भवन में उनकी मलयवती से भेंट होगई। वहीं मलयवती का भाई मित्रावसु भी जीमूत वाहन को खोजते खोजते आ पहुँचा।

मित्रावसु ने अपने पिता का सन्देश जीमूत वाहन को सुनाया। वे तो यह चाहते ही थे। उनकी रग रग में प्रसन्नता

का सागर सा उमड़ चला। उधर मलयवती की कुछ और ही दशा थी। जीमूत वाहन के किसी एक वरताव ने उसके हृदय को अधिक निराश सा कर दिया था। वह अपने जीवन को नष्ट कर देना चाहती थी। किन्तु जीमूत वाहन ने उसके सन्देह को दूर कर दिया। वहीं, वन में ही दोनों का गान्धर्व विवाह होगया। दोनों एक दूसरे को पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुये। यदि इस खबर से उनके माँ-बाप भी अधिक प्रसन्न हुये हों तो आश्चर्य क्या ?

मलयवती ससुराल में जाकर रहने लगी। जीमूत वाहन और मलयवती का जीवन बड़े सुख और संतोष के साथ व्यतीत होने लगा। कभी-कभी मित्रा वसु भी अपनी वहन के यहाँ हो आया करता था। एक दिन जीमूत वाहन मित्रा वसु को अपने साथ लेकर समुद्र की शोभा देखने के लिये चले। कुछ दूर जाने पर उन्हें पहाड़ की चोटी के ऊपर सफेद चीज़ों का एक ढेर सा दिखाई पड़ा। जीमूत वाहन को उस ढेर को देख कर अत्यन्त आश्चर्य हुआ। उन्होंने मित्रा वसु से पूछा, भाई वह क्या है, जाकर देखो तो।' मित्रा वसु ने उस ढेर को देख कर तथा उसकी परीक्षा करके उत्तर दिया यह साँपों की हड्डियों की ढेर है। पहले गरुड़ नाग लोक में जाकर साँपों का विध्वंस किया करता था। उसके उत्पात से न जाने कितने साँप मर जाते, और न जाने कितनी साँपिनियों के गर्भ गिर जाते थे। जब बासुकि से सर्पों का वह सर्वनाश न देखा गया, तब उन्होंने गरुड़ से सलाह करके यह निश्चय किया, कि प्रति दिन एक

साँप लाल वस्त्र पहन कर गरुड़ के पास आ जाया करे। बस, उसी समय से एक साँप प्रति दिन गरुड़ के लिये इस जगह पर आजाता है। और वह उसे खाकर अपनी भूख मिटाता है। यह ढेर, उन्हीं साँपों की हड्डियों की है।

मित्रा वसु की बात सुन कर जीमूत वाहन का दयालु हृदय तड़प उठा। उनके मन के भीतर दुःख की एक धारा सी प्रवाहित हो उठी। वे अपने मनमें सोचने लगे, यह तो गरुड़ का राक्षसी काण्ड है। चाहे जो हो, पर किसी तरह गरुड़ के इस राक्षसी काण्ड को रोकना चाहिये। वे अभी यह सोच ही रहे थे, कि वहाँ एक आदमी पहुँचा। वह मित्रावसु के पिता का अनुचर था। उसने उसे मित्रा वसु को बुलाने के लिये भेजा था। मित्रा वसु चला गया। जीमूत वाहन भला क्यों जाते? उनका हृदय तो करुणा से तड़प रहा था। वे उसी स्थान पर बैठ कर साँपों के उद्धार की तरकीब सोचने लगे।

जीमूत वाहन अभी यह सोच ही रहे थे, कि उन्हें किसी स्त्री के रोने की आवाज़ सुनाई पड़ी। वे उस आवाज़ के ही सहारे उसके पास गये। वह एक नाग स्त्री थी। उसके लड़के शंख चूड़ की आज गरुड़ के पास जाने की बारी थी। वही अपनी माँ के जीवन का एक मात्र सहारा था। उसकी माँ रह रह कर रुदन और विलाप कर रही थी। वह अपनी माँ को समझाता। और उसके सामने संसार की अनित्यता की तसबीर खींचता किन्तु वह मानती ही नहीं थी। जीमूत वाहन से न रहा गया।

उन्होंने आगे बढ़ कर उससे कहा, माँ! तुम न रोओ। मैं तुम्हारे पुत्र के बदले आज गरुड़ के पास जाऊँगा!

किन्तु जीमूत वाहन की बात शंखचूड़ को स्वीकार न हुई। जब उन्होंने उससे अधिक हठ किया, तब वह अपनी माँ को समझाता हुआ वहाँ से दूर हट गया। उसने बहुत कुछ हठ करने पर भी अपना लाल वस्त्र जीमूत वाहन को न दिया। अब जीमूत वाहन क्या करें, वे चिन्ता में पड़ गये। उसी समय जीमूत वाहन के पास उनके घर का भेजा हुआ एक आदमी पहुँचा। उसके पास लाल वस्त्र था। जीमूत वाहन ने उससे लाल वस्त्र लेकर पहन लिया, और वे उसी स्थान में बैठ कर गरुड़ के आने की प्रतीक्षा करने लगे।

उधर शंख चूड़ को उसकी माँ छोड़ती ही न थी। उसे उस काल में आने में देर होगई। इधर गरुड़ आया, और जीमूत वाहन ही को अपना भक्ष्य समझ कर उन्हें चोंच से उठा कर मलय पर्वत पर चला गया। जीमूत वाहन मन ही मन अत्यन्त प्रसन्न हुये। उन्होंने सोचा मेरा शरीर दूसरों के काम में तो आगया। इसीतरह यदि दूसरे जन्म में भी यह दूसरों के काम में आजाय, तो बहुत अच्छा हो!

गरुड़ ने सामने भक्ष्य को रख कर जब उसके शरीर में चोंच मारी, तब उसे पहले दिन के भोजन का सा मज़ा न आया। उसने चोंच मारना बन्द कर दिया। जीमूत वाहन अत्यन्त आश्चर्य में पड़ गये। उनसे न रहा गया। उन्होंने गरुड़ से

कहा, गरुड़ मेरे शरीर में रुधिर है, मेरी अँतड़ियों में खून का तीव्र प्रवाह है। मेरे शरीर में मांस भी अधिक है। और तुम्हारी क्षुधा अभी शान्त हुई नहीं मालूम होती। फिर तुमने खाना बन्द क्यों कर दिया ?

जीमूत वाहन की बात सुनकर गरुड़ अत्यन्त चिन्ता में पड़ गया। उसे जीमूत वाहन के त्याग और धैर्य पर अत्यन्त आश्चर्य हुआ। वह कुछ उत्तर न दे सका। न जाने क्या देर तक मन ही मन सोचता रहा।

अब दूसरी ओर का हाल सुनो। जब जीमूत वाहन को घर पहुँचने में अत्यन्त देर हुई, तब उनके माँ-बाप अधिक चिन्तित हुये। उन्होंने चारों ओर उनकी खोज कराई, पर कहीं पता न लगा। अब तो उनसे न रहा गया। वे स्वयं उनकी खोज में निकल पड़े। मार्ग में उन्हें रक्त से सना हुआ एक चूड़ामणि मिला। उस चूड़ामणि को देखते ही, जैसे उनके हृदय का बाँध टूट पड़ा। वे विलाप करके रोने लगे। किन्तु अनुचर ने उन्हें यह कह कर शान्त किया, कि यह चूड़ामणि, राजकुमार का नहीं। बल्कि एक साँप का है। इस पहाड़ पर साँप को खाने के लिये प्रतिदिन गरुड़ आया करते हैं, और वे उसे उठा कर इसी मार्ग से ले जाते हैं।

जीमूत वाहन के माँ-बाप का दुख कुछ कम हुआ। वे उनकी खोज में आगे बढ़े। उधर जब शंखचूड़ अपनी माँ को समझा बुझाकर उस स्थान पर आया, तब उसने गरुड़ को उस स्थान

पर न देखा। उसने समझ लिया, कि राजकुमार ने अपने को गरुड़ का भक्ष्य बना डाला। वह भी राजकुमार की खोज में वहाँ से आगे बढ़ा। मार्ग में उसकी और राजकुमार के माँ-बाप की भेंट हुई। वे सब के सब विलाप कर रहे थे। जब शंखचूड़ से उन्हें सच्ची बात का पता लगा, तब उनका हृदय और भी अधिक तड़प उठा। वे राजकुमार को पाने से एक तरह से निराश हो गये। किन्तु फिर भी उन लोगों ने यह निश्चय किया, कि एक बार चलकर उस स्थान को देखना चाहिये। यदि राजकुमार मिल जायँ, तब तो अच्छा ही है। नहीं तो सब लोग चिता में जलकर अपने-अपने प्राणों को त्याग देंगे।

इन लोगों के मन में निराशा अवश्य दौड़ रही थी, परन्तु फिर भी एक कोने में आशा छिपी थी। वे उसी के सहारे राजकुमार के लिये उस स्थान की ओर चले। इधर राजकुमार की दया-लुता और त्याग को देख कर गरुड़ की हिंसा विस्मय में बदल गई। उनके अपूर्व त्याग को देख कर उसके हृदय में प्रकाश की एक अद्भुत रेखा सी दौड़ गई। उसने राजकुमार की ओर सम्मान की दृष्टि से देख कर कहा—बोलो तुम कौन हो? तुम क्यों दूसरों के लिये अपने प्राणों का परित्याग कर रहे हो?

इससे तुमसे कुछ मतलब नहीं!—राजकुमार ने उत्तर दिया—तुम अपना काम करो। मुझे शीघ्र खाकर अपनी क्षुधा शान्त करो।

इसी समय गरुड़को कुछ मनुष्यों के रोने और विलाप करने की आवाज सुनाई पड़ी। गरुड़ इस आवाज़ को सुनकर और भी अधिक दुखी हुआ। वह समुद्र में कूद कर अपना प्राण देना चाहता था; किन्तु जीमूत वाहन ने उसे ऐसा करने से रोक लिया। उन्होंने ने कहा—गरुड़ प्राण त्याग करने से कुछ लाभ न होगा। यदि तुम सचमुच अपने काम से दुखी हो, तो प्रतिज्ञा करो, कि आज से मैं किसी प्राणी को कष्ट न दूँगा। गरुड़ ने जीमूत के कथनानुसार प्रतिज्ञा की। इससे यदि जीमूत की सकरुण आत्मा को अधिक आनन्द मिला हो तो आश्चर्य क्या!

जीमूत वाहन अत्यन्त कमज़ोर हो गये थे। उनके शरीर का अधिक रक्त बाहर निकल गया था। वे न उठ सकते थे, और न बोल सकते थे। मृतप्राय की भाँति भूमि पर पड़े थे। इसी समय उनके माँ-बाप और उनकी स्त्री वहाँ पहुँच गई। राजकुमार की अवस्था देख कर सब के सब विलाप करने लगे। अभी कुछ ही समय बीत पाया था, कि भगवती गौरी वहाँ आपहुँची। उन्होंने राजकुमार के शरीर में प्राणों का संचार किया। इसी समय आकाश से अमृत की वर्षा हुई। सभी साँप जी उठे और समुद्र में चले गये। देखा, तुमने जीमूत वाहन का त्याग! उन्होंने अपने त्याग से कितने प्राणियों को मौत के मुख से बचा लिया!

महाराज शिवि

प्राचीन काल में भारतवर्ष में अनेक ऐसे महापुरुष होगये हैं जिन्होंने दूसरों के लिये अपने प्राणों का उत्सर्ग कर दिया है। इन महा पुरुषों में महाराज शिवि का नाम भी अत्यन्त प्रसिद्ध है। महाराज शिवि चन्द्रवंश में उत्पन्न हुये थे। उनके पिता का नाम उशीनर था। इसी से बहुत से लोग महाराज शिवि को औशीनर भी कहते हैं।

महाराज शिवि एक वीर पुरुष थे। उनके हृदय में दया, प्रेम और सहानुभूति कूट-कूट कर भरी हुई थी। वे अपनी प्रजा को अपने प्राणों ही के समान प्यार करते थे। प्रजा सुख और सन्तोष के साथ अपना जीवन बिता रही थी। न कोई किसी को सताता था, और न कोई किसी पर अत्याचार करता था। चारों ओर शान्ति, सुख और समृद्धि का साम्राज्य सा फैला हुआ था।

महाराज शिवि समय समय पर यज्ञ भी किया करते थे। उनके किए हुए यज्ञों से उनकी कीर्ति चारों ओर फैल गई। लोग उनके नाम को श्रद्धा और संमान से याद करने लगे। महाराज शिवि की इस सुख्याति से इन्द्र का हृदय जलभुन उठा। उसके प्राणों के अन्दर ईर्ष्या की एक लहर सी दौड़ गई। वह महाराज शिवि को परेशान करने के लिये अवसर की प्रतीक्षा करने लगा।

कुछ दिनों के पश्चात महाराज शिवि ने एक यज्ञ आरम्भ किया। इन्द्र ने इस यज्ञ ही को अपना लक्ष्य बनाया। इन्द्र और अग्नि दोनों ने मिल कर शिवि की परीक्षा लेने का संकल्प किया। इन्द्र ने बाज का रूप धारण किया, और अग्नि ने कबूतर का। कबूतर उड़ता हुआ चला, और इन्द्र रूपी बाज ने उसका पीछा किया। कबूतर की आकृति पर भय, अधीरता और आकुलता के चिन्ह थे। ऐसा जान पड़ता था, मानो वह इन्द्र रूपी बाज से बचने के लिये अपने लिये कोई उचित शरण ढूँढ़ रहा हो।

कबूतर और बाज दोनों ने पहले ही से अपना कार्य क्रम बना लिया था। उसी कार्य क्रम के अनुसार कबूतर उड़ता हुआ महाराज शिवि के पास पहुँचा। और वहीं छिपने की चेष्टा करने लगा। उसी समय बाज भी उसका पीछा करता हुआ वहीं आ पहुँचा। कबूतर को महाराज शिवि की शरण में देख कर बाज के चेहरे पर जैसे उदासी सी दौड़ गई। उसने महाराज शिवि की ओर देख कर कहा, महाराज! आप धर्मात्मा हैं। मैंने सुना है, आप अपने दुश्मनों के साथ भी अच्छे बरताव से पेश आया करते हैं। फिर आप मेरे साथ ऐसी कठोरता क्यों कर रहे हैं? मैं भूख से अत्यन्त पीड़ित हो रहा हूँ। आप इस कबूतर को शरण देकर क्यों मेरी भूख की ज्वाला बढ़ा रहे हैं? क्या इससे आपके धर्म और आपके पुण्य को कलंक न लगेगा?

मैं धर्मात्मा हूँ—शिवि ने उत्तर दिया—इसीलिये तो मैं कबूतर को शरण दे रहा हूँ। संसार में शरणार्थी की रक्षा करना ही सर्व

श्रेष्ठ धम है। जो शरण में आये हुये की रक्षा नहीं करता उसे अत्यन्त भयंकर पाप लगता है।

मगर मैं भी तो भूखा हूँ महाराज! बाज ने कहा—भूखों को भोजन देना क्या पुण्य नहीं? आप को यह बताने की आवश्यकता नहीं कि भोजन ही से आदमी अपने जीवन को स्थिर रख सकता है? फिर क्या भूख की ज्वाला से मैं मर न जाऊँगा? मैं नहीं समझता, कि आप मेरी जान लेकर कबूतर के प्राणों की क्यों रक्षा कर रहे हैं? महाराज जान पर विचार कीजिये! मेरे आहार को मुझसे छीन कर मुझ पर अत्याचार न कीजिये।

'मैं कह चुका बाज!' राजाने उत्तर दिया—भयभीतों को शरण देना ही संसार में सर्व श्रेष्ठ धर्म है। इस धर्म की बराबरी संसार का कोई धर्म नहीं कर सकता। मैं अपने इस धर्म की रक्षा में अपना सब कुछ छोड़ सकता हूँ।

मैं अपने इस धर्म को अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करता हूँ। मैं अपना सब कुछ छोड़ करके भी इसे नहीं छोड़ सकता। तुम्हें आहार ही तो चाहिये। मैं तुम्हारे आहार के लिये अभी प्रबन्ध करता हूँ।

राजन्!—बाज़ ने कहा—मेरे भाग्य से मुझे जो भोजन मिल गया है, वही आप मुझे दीजिए। आप तो जानते ही हैं महाराज, कि कबूतर बाज को छोड़ कर और कुछ नहीं खाया करते। इस-लिये आप मुझे मेरा कबूतर ही दीजिये।

मैं तुम्हारी इस नीति विरुद्ध बात को नहीं मान सकता बाज !—शिवि ने उत्तर दिया—संसार में दया और सहानुभूति ही सर्वश्रेष्ठ हैं। दूसरे शब्दों में इसी का नाम स्वर्ग है। इसी के लिये लोग अनेक प्रकार के जप और तप करते हैं। तू चाहे जो माँग ले ! मैं तुझे सब कुछ प्रसन्नता पूर्वक दे दूँगा। किन्तु यह कबूतर जो तुझसे भयभीत होकर मुझसे अपने प्राणों की भिक्षा माँगने आया है, मैं तुझे कदापि न दूँगा।

अच्छा महाराज !—बाज ने कहा—यदि आपकी कबूतर पर अधिक ममता है, तो आप इस कबूतर के बराबर अपने शरीर का मांस मुझे दें।

बहुत ठीक !—राजा ने उत्तर दिया—तुमने यह पहले ही क्यों नहीं कहा ? मैं तुम्हारी इस बात का हृदय से स्वागत करता हूँ। भला इससे बेचारे कबूतर के प्राणों की रक्षा तो हो जायगी !

राजा की आकृति पर असीम प्रसन्नता, व संतोष के भाव मूर्तिमान थे। वे प्रसन्नता से अपने शरीर का मांस काट कर तराजू के पलड़े पर रखने लगे। दूसरी ओर दूसरे पलड़े पर कबूतर बैठ गया। महाराज शिवि ज्यों ज्यों अपने शरीर का मांस काट कर पलड़े पर रखते जाते थे, त्यों त्यों कबूतर और भी अधिक भारी होता जाता था। जब महाराज शिवि अपने शरीर का सब मांस चढ़ा चुके और वह कबूतर के बराबर न हुआ, तब वे स्वयं दूसरे पलड़े पर जाकर बैठ गये। दूसरे के प्राणों की रक्षा के लिये अपने प्राणों का बलिदान ! ! ऐसा बलिदान और त्याग

संसार में बहुत कम देखा जाता है! इस त्याग और बलिदान से यदि स्वर्ग के देवता भी महाराज शिवि के ऊपर प्रसन्न हो उठे तो आश्चर्य क्या!

सहसा आकाश में देवताओं की दुन्दुभी बज उठी। महाराज शिवि के ऊपर फूलों की वर्षा होने लगी। इन्द्र और अग्नि, दोनों अपने अपने रूप में प्रगट हुये। इन्द्र ने कहा—महाराज! मैं इन्द्र हूँ। आपने जो अद्भुत त्याग किया है, उसे देख कर सभी देवता विस्मित हो उठे हैं। आपका यह त्याग अपूर्व है, अनुकरणीय है। क्या संसार में इसका कभी कोई उदाहरण मिल सकेगा? आपके इस त्याग ने आपको संसार से अधिक ऊँचा उठा दिया है। इतना ऊँचा उठा दिया है, कि कोई बहुत बड़ा तपस्वी भी अपनी अखंड तपस्या की शक्ति से उस स्थान पर नहीं पहुँच सकता! आप फिर दिव्य शरीर धारण कर इस संसार का पालन करें। मरने पर आपको वह स्थान मिलेगा, जो बड़े बड़े पुण्यात्माओं को भी नहीं मिला करता।

महाराज शिवि को मरे हुए न जाने कितने दिन होगये, लेकिन उनके अपूर्व त्याग और बलिदान की कहानी आज भी हिन्दुस्तान के घर घर में कही जाती है। आज इतने दिनों के बाद भी जब लोग महाराज शिवि का नाम लेते हैं, तो आँखों के सामने अनायास ही उनके दिव्य जीवन की एक तसवीर सी खिंच जाती है।

महर्षि दधीचि

महर्षि दधीचि कौन थे, किस वंश में उत्पन्न हुये थे, तथा उन्होंने किसके द्वारा शास्त्रों का मनन और अनुशीलन किया था, यह तो अभी तक किसी को मालूम न हो सका। मालूम कैसे हो ? जिन पुराणों के आधार पर महर्षि दधीचि के जीवन की सृष्टि की गई है, उनमें महर्षि दधीचि के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली और कुछ बातें पाई ही नहीं जातीं। पाई जायँ या न पाई जायँ, किन्तु फिर भी महर्षि दधीचि का नाम आज हिन्दुस्तान के हर एक निवासी की जुबान पर है। जिसे देखिये, वही उनका गुण गाता है, जिसे देखिये वही उनके आदर्श और सिद्धान्तों की सराहना करता है। क्यों न हो, उन्होंने दूसरों की रक्षा के लिये अपने प्राणों तक का विसर्जन कर दिया था।

महर्षि दधीचि एक वन में रहा करते थे। उसी वन में इनका आश्रम था। आश्रम में और भी कई विद्यार्थी रहा करते थे। वे कभी महर्षि से शास्त्रों और वेदों का अध्ययन करते। कभी ईश्वर के मनन चिन्तन का पाठ पढ़ते। दधीचि इसके कुलपति के नाम से विख्यात थे। इनके त्याग और साधुता ने उस आश्रम को स्वर्ग से भी अधिक दिव्य बना दिया था। जंगल के जीव प्रेम से इनके आश्रम में विहार करते। विहार ही नहीं करते, बल्कि दधीचि और दधीचि के शिष्यों के साथ खिलवाड़ भी किया करते थे। क्यों न हो, वहाँ से हिंसावृत्ति प्रस्थान कर गई थी।

दधीचि अत्यन्त वृद्ध हो गये थे। उनके हृदय में अनेक गूढ़ विषयों का ज्ञान पूर्ण रूप से भरा हुआ था। उनके दरवाजे पर सदैव ऋषि मुनियों की एक भीड़ सी लगी रहती थी। वे सब को प्रतिष्ठा से स्थान देते, और सब से सम्मान पूर्वक बातें करते। सभी दधीचि को अत्यन्त सम्मान भी प्रदान करते थे। वे उस समय महर्षियों में सर्वश्रेष्ठ समझे जाते थे। उनकी वह साधना, उनकी वह तपस्या! सचमुच उनमें बड़ी अनोखी शक्ति थी।

एक दिन महर्षि दधीचि के दरवाजे पर ऋषियों की भीड़ लगी थी। उन दिनों देवासुर संग्राम हो रहा था। राक्षस स्वच्छन्दता पूर्वक देवताओं का सर्वनाश कर रहे थे। न तो इन्द्र की शक्ति काम दे रही थी, और न बृहस्पति का ज्ञान। सभी जैसे राक्षसों के उपद्रवों से अत्यन्त भयभीत हो उठे थे। उस दिन दधीचि की सभा का यही मुख्य विषय था। सभी ऋषियों के चेहरे पर एक परेशानी सी नाच रही थी। सभी गंभीर होकर मन ही मन यह विचार कर रहे थे कि किस भाँति देवताओं को राक्षसों के पंजे से बचाया जाय!

आपस में तर्क वितर्क भी हो रहा था। एक ने पूछा—राक्षस इस तरह देवताओं का क्यों सर्वनाश कर रहे हैं? दूसरे ने जवाब दिया—संसार का यह नियम है, कि जिसके हाथ में शक्ति रहती है, वह कमजोरों को दबाता है। दबाता नहीं, उन पर मनमाना अत्याचार भी करता है। राक्षस देवताओं से शक्तिशाली हैं,

इसीलिये वे उन पर अत्याचार कर रहे हैं, इसी से वे उनका सर्व-नाश कर रहे हैं।

महर्षि दधीचि अभी तक शान्त थे। वे सबकी बातें बड़े ध्यान से सुन रहे थे। उनके गंभीर मौन से ऐसा मालूम होता था, मानो वे मन ही मन कुछ सोच रहे हों। अभी वे सोच ही रहे थे, कि वहाँ एक ब्राह्मण आ पहुँचा। सब की दृष्टि उस ब्राह्मण की ओर अपने आप आकर्षित होगई। महर्षि दधीचि ने भी ब्राह्मण की ओर एक तीव्र दृष्टि से देखा। ब्राह्मण घबड़ा गया। उसने हाथ जोड़ कर कहा, महाराज! क्षमा कीजिये। मैं इन्द्र हूँ। मुझे आपसे कुछ माँगना है। इसीलिये मैंने ब्राह्मण का स्वरूप धारण किया है।

दधीचि ने इन्द्र की ओर फिर एक तीखी दृष्टि से देखा। कुछ देर तक देखते रहने के बाद उन्होंने कहा—इन्द्र! तुम्हारी यह कपट नीति बहुत बुरी है। तुम अपनी इस कपट नीति ही के कारण संसार में बुरी तरह से बदनाम हो। बदनाम ही नहीं बल्कि इसी से तुम अनेक कष्टों का सामना भी करते हो। तुम्हारी इस नीति ही के कारण बेचारे देवता भी बुरी तरह अत्याचार की चक्की में पीसे जा रहे हैं। मैं तुम्हारी इस नीति को घृणा की दृष्टि से देखता हूँ।

महाराज!—इन्द्र ने जवाब दिया—यह नीति मेरी नहीं, बल्कि देवताओं के गुरु बृहस्पति की है। वे जैसा कहते हैं, मैं उसी का

अनुसरण करता हूँ। इसलिये इसकी सफलता और असफलता का श्रेय उन्हीं को है।

यह ठीक है!—महर्षि दधीचि ने कहा—किन्तु तुम इससे मुक्त नहीं हो सकते। चलने वाले तो तुम्हीं हो। संसार में चलने वाले ही को दोष लगा करता है। तुम चाहे जो कुछ कहो, लेकिन मैं तुम्हारी बातों से प्रभावित नहीं हो सकता। मैं तुम्हें अपने हृदय में स्थान नहीं दे सकता।

इन्द्र चुप होगया। वह कुछ कहना चाहता था, किन्तु उसकी ज़ुबान न खुली। महर्षि दधीचि से उसकी यह बेबसी छिपी न रही। उन्होंने कहा—कहो इन्द्र! क्या कहना चाहते हो? डरने की कोई बात नहीं।

इन्द्र को जैसे एक भारी सहारा सा मिल गया! वह संतोष की एक साँस लेकर कहने लगा, महाराज! यह तो आप जानते ही हैं, कि आजकल देवता बड़े संकट में ग्रस्त हैं। मैं अपनी सारी शक्तियों को आजमा चुका। किन्तु देवताओं का कल्याण न हो सका। मैं ब्रह्मदेव की शरण में भी गया था। अधिक प्रार्थना करने पर जब वे प्रसन्न हुये, तब उन्होंने मुझे एक युक्ति बताई। मैं उसी युक्ति के लिये यहाँ आपके पास आया हुआ हूँ।

यह कह कर इन्द्र शान्त होगया। महर्षि भी कुछ देर इन्द्र की ओर देखते रहे। कुछ देर के बाद भी जब इन्द्र ने कुछ और न कहा, तब महर्षि दधीचि ने कहा—क्यों, चुप क्यों हो गये? कहते क्यों नहीं? तुम्हें जो कुछ कहना है, निःसंकोच कहो।

महाराज!—इन्द्र ने उनकी ओर देख कर उत्तर दिया—मैं आपके पास ब्रह्मदेव की आज्ञा से आया हुआ हूँ। मैं देवताओं के कल्याण के लिये आपसे एक चीज़ माँगना चाहता हूँ। आशा है, आप देवताओं के कल्याण के लिये मुझे उस चीज़ को देने की कृपा करेंगे!

इन्द्र!—दधीचि ने कहा—यह तो मैं पहले ही जानता था, कि आपका यहाँ आना अभिप्राय से खाली नहीं। किन्तु आप कुछ कहते तो हैं नहीं! केवल माँगने ही की बात को इधर उधर से घुमा-फिरा कर कह रहे हैं।

भगवन्!—इन्द्र ने उत्तर दिया—वृत्रासुर का नाश हम लोगों के पराक्रम के बाहर की बात है। ब्रह्मदेव जी ने कहा है, कि यदि ब्रह्मर्षि दधीचि अपनी हड्डियां दें और उससे वज्र बनाकर युद्ध किया जाय तो वृत्रासुर का सर्वनाश हो सकता है। मैं आशा करता हूँ कि आप देवताओं के कल्याण के लिये मेरी इस प्रार्थना पर ध्यान देंगे।

देवताओं का कल्याण! दधीचि ने इन्द्र की ओर देखकर कहा—यह क्यों नहीं कहते इन्द्र कि इससे आप का कल्याण होगा। आप मेरी हड्डियों से बने हुये वज्र द्वारा वृत्रासुर का सर्वनाश तो करेंगे ही, साथ ही देवताओं के ऊपर अपना दृढ़ शासन भी स्थापित करेंगे। क्यों यही है बात न! किन्तु आप अधीर न हों। इसका यह मतलब नहीं है कि मैं आपको अपनी हड्डियाँ देने

में किसी प्रकार का संकोच कर रहा हूँ। नहीं, चाहे जिसका उपकार हो, किन्तु यदि दूसरों के उपकार के लिये अपने प्राणों का उत्सर्ग हो तो इससे बढ़कर दूसरी बात क्या! मैं अभी योगिक क्रियाओं द्वारा अपने शरीर को छोड़ता हूँ। आप प्रसन्नता पूर्वक मेरी हड्डियाँ लेलें और उनसे अपने तथा देवताओं के कल्याण के लिये वज्र बनायें।

महर्षि दधीचि ने प्रसन्नता पूर्वक अपने शरीर का त्याग कर दिया। महर्षि दधीचि की हड्डियों को पाकर इन्द्र कितना शक्तिशाली बन गया, यह क्या किसी से छिपा हुआ है। देखा तुमने महर्षि दधीचि का उत्सर्ग! अपने इसी उत्सर्ग के कारण तो उन्होंने भारत के कोने कोने में अपनी एक अमर सत्ता सी स्थापित कर दी है।

सुदर्शन

बहुत पुराने जमाने की बात है। किसी सघन वन में एक बहुत बड़े ऋषि अपनी स्त्री के साथ रहा करते थे। उनका नाम सुदर्शन था। वे दया और सहानुभूति की प्रतिमूर्ति थे। उनकी रग रग में दयालुता निवास करती थी। उन्हीं की भाँति उनकी स्त्री का हृदय भी अत्यन्त सकरुण था। दोनों बनवासियों का बड़ा पवित्र जीवन था। दोनों अत्यन्त आनन्द के साथ साधना और तपश्चर्या में अपना जीवन बिता रहे थे।

सायंकाल का समय था। सूर्यभगवान धीरे धीरे पश्चिम की ओर ढुलक रहे थे। सुदर्शन ने अपनी स्त्री को अपने समीप बुला कर कहा—प्रिये, आज मैं तुम्हें एक ऐसी बात बताता हूँ जिसका महत्त्व दुनिया में सबसे बढ़कर है।

सुदर्शन की स्त्री उत्कंठा से सुदर्शन के पास जाकर बैठ गई। उन्होंने अपने को अधिक गंभीर बनाकर कहा-तुम्हें यह सुनकर अत्यन्त आश्चर्य होगा, कि संसार में आतिथ्य-सत्कार ही सबसे बड़ा धर्म है। जो प्राणी इस धर्म से अपने हृदय को सबल नहीं बनाता, उसकी आत्म-शुद्धि कभी नहीं होती। इसलिये तुम घर पर आये हुये किसी अतिथि का कभी अपमान न करना।

सुदर्शन की स्त्री को बड़ा आश्चर्य हुआ। साधना, तपस्या, दया, पुण्य, संसार में अनेक प्रकार के धर्म हैं किन्तु क्या अतिथि-पूजा इनसे भी अधिक बढ़ कर है! उससे न रहा गया। उसने अपने पति की ओर आश्चर्य भरी दृष्टि से देख कर जवाब दिया, यह कैसी बात स्वामी? क्या सचमुच अतिथि-पूजा संसार के सर्वश्रेष्ट धर्मों में हैं।

सचमुच सर्वश्रेष्ठ धर्मों में है—सुदर्शन ने कहा—यही सत्य है, यही शिव है और यदि इसी को हम सुन्दर भी कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं। मैं यहां इस संबंध की तुम्हें एक कहानी भी सुना रहा हूँ। देखो, इसमें धर्म और सत्य का कितना अंश भरा हुआ है! एक राजा किसी जंगल में शिकार खेलने के लिये गया। वह

बन में बहुत इधर उधर घूमा, किन्तु कोई शिकार उसके हाथ न आया। वह बहुत थक गया। भूख की ज्वाला उसके प्राणों को आहत सी करने लगी। वह एक वृक्ष के नीचे मृतप्राय सा होकर पड़ रहा। उसके नौकर चाकर अत्यन्त व्याकुल हुये। कोई पानी लेने के लिये दौड़ा, कोई फल लेने के लिये। वृक्ष के नीचे केवल राजा और उसका मंत्री रह गया।

संयोग की बात! इसी समय आकाश घनघोर घटाओं से ढक गया। हवा भी भयंकर रूप से चलने लगी। सबको अपने अपने प्राणों की आ पड़ी! सब लोग जैसे एक दूसरे को भूल से गये। दूसरी ओर से डाकुओं का एक दल भी आ पहुँचा। वह एक सेठ की दौलत को लूट कर उसकी सेठानी को ज़बरदस्ती पकड़े लिये जारहा था। किन्तु जब उसकी दृष्टि राजा के आदमियों पर पड़ी, तब वह सेठानी को छोड़ कर भाग गया। सेठानी भी रोती विलाप करती उसी पेड़ के नीचे जा पहुँची, जहाँ राजा, अपने मंत्री के साथ विश्राम कर रहा था।

जिस वृक्ष के नीचे ये तीनों प्राणी बैठे हुये थे, उसी पेड़ के ऊपर शुक पक्षी का एक जोड़ा घोंसला बना कर रहा करता था। दोनों की दृष्टि नीचे बैठे हुये तीनों प्राणियों पर पड़ी। तीनों को भूख और प्यास से व्याकुल देख शुक का हृदय दया से उमड़ उठा। उसने अपनी स्त्री से कहा—प्रिये जिसके ऊपर हम लोग रहा करते हैं, उसी की छाया में तीन मनुष्य बैठे हुये हैं। तीनों भूख प्यास से व्याकुल हैं, तीनों का शरीर सर्दी से थर थर काँप

रहा है ! इन्हें आराम पहुँचाने के लिये किसी भाँति अग्नि का प्रबन्ध करना चाहिये ।

शुक की भाँति ही उसकी स्त्री का भी हृदय अत्यन्त कोमल और सहृदय था । उसने भी शुक की बात का अनुमोदन किया । बस फिर क्या ! शुक उड़ता हुआ एक गाँव में गया और वहाँ से आग लेकर वापस लौट आया । वृक्ष के नीचे बैठे हुये आदमी आग पाकर जैसे जी उठे ! सब लकड़ियाँ एकत्र कर आग जलाने लगे । शुक भी तिनके ला लाकर आग में डालने लगा । आग जल उठी । तीनों ने सर्दी से काँपते हुए शरीर को आग से सेंक कर सुख का अनुभव किया ।

किन्तु अभी तो उनकी भूख की ज्वाला शान्त ही न हुई थी । उसने अपनी स्त्री से कहा—प्रिये; इन अतिथियों की सर्दी तो दूर हुई । अब इनके भोजन का प्रबन्ध करना चाहिये !

किन्तु—उसकी स्त्री ने उत्तर दिया—इस समय भोजन के लिये क्या प्रबन्ध हो सकता है स्वामी ! घर में भोजन की सामग्री तो है नहीं और अब भोजन संग्रह करने का समय भी नहीं रहा ।

कुछ भी हो—शुक ने कहा—किन्तु अतिथियों की भूख की ज्वाला मिटानी ही चाहिये । यदि कुछ न मिलेगा तो मैं अपने शरीर के माँस से इन्हें तृप्त करूँगा ।

शुक की सकरुण आत्मा ! वृक्ष के नीचे आग धधक रही थी । शुक उसी धधकती हुई आग में कूद पड़ा । अब शुक की स्त्री

सोचने लगी। अतिथि तो तीन हैं। केवल मेरे पति के ही शरीर के मांस से उनका पेट कैसे भरेगा। बस फिर क्या थी वह भी उसी आग में कूद पड़ी। उसके छोटे छोटे बच्चों ने भी उसी का अनुगमन किया। सब के सब आतिथ्य सत्कार से ही सांसारिक बन्धनों से सदा के लिये मुक्त हो गये।

अतिथि पूजा का इतना प्रबल महत्व! सुदर्शन की स्त्री इसे सुनकर आश्चर्य में पड़ गई। आश्चर्य में ही नहीं पड़ गई, बल्कि उसके हृदय में आतिथ्य-पूजा के लिये श्रद्धा और विश्वास की सृष्टि भी हो गई। अब वह इसी को अपने जीवन का महाव्रत समझती। शाम हो या सवेरा, दिन हो या रात, उसके आश्रम के द्वार पर जब कोई अतिथि आता तब वह उसका सत्कार करती। उसे आतिथ्य सत्कार में बड़ा आनन्द आता। आतिथ्य सत्कार की वृत्ति ने उसे दया और करुणा की प्रति मूर्ति बना दी। सब लोग उसकी सराहना करने लगे। क्यों न हो, उसने दया, प्रेम और करुणा को अपने जीवन का महाव्रत बनाया था न!

सुदर्शन की स्त्री महामहिमावती, बड़ी करुणाशीला धर्मराज के मन में भी एक बार उसकी परीक्षा लेने की इच्छा पैदा हुई। एक दिन वे ब्राह्मण का स्वरूप धारण कर उसके आश्रम के द्वार पर जा पहुँचे।

सुदर्शन की स्त्री को तो जैसे ईश्वर मिल गया। ऐसा सुनकर उसका चित्त प्रसन्नता से गद्‌गद् हो उठा। धर्मराज ने उसकी ओर देख कर उससे पूछा—भद्रे! तुम्हारा स्वामी कहाँ है?

सुदर्शन की स्त्री ने आदर के साथ अतिथि के पैरों की पूजा की। उसके चरणों की धूल अपने मस्तक पर लगाई। फिर उसने अतिथि से खाने-पीने के संबंध में प्रश्न किया। परन्तु अतिथि तो खाने-पीने के लिये आया न था! वह तो आया था, दयामती सुदर्शन की स्त्री की परीक्षा लेने। ब्राह्मण रूप धारी धर्मराज ने उत्तर दिया—भार्ये; मुझे खाने के लिये न तो अन्न चाहिये और न पीने के लिए जल! मैं केवल तुम्हारे शरीर पर अपना आधिपत्य चाहता हूँ?

सुदर्शन की स्त्री पतिव्रता थी। उसके रोम रोम में अपने पति का प्रेम था वह अतिथि के सामने से हट गई। एक ओर आतिथ्य सत्कार दूसरी ओर धर्म! वह चिन्ता में पड़ कर सोचने लगी! अतिथि ने कुछ उत्तर न पाकर फिर पूछा—आर्ये! क्या कहती हो? क्या मैं तुम्हारे आश्रम के द्वार से लौट जाऊँ?

नहीं, सुदर्शन की स्त्री ने उत्तर दिया—यह मेरा शरीर मेरे पति का है। यदि वे मुझे आज्ञा देवें तो मैं आपकी आज्ञा का पालन कर सकती हूँ।

सुदर्शन की स्त्री की यह बात खतम भी न होने पाई थी, कि महर्षि सुदर्शन भी वहाँ आ पहुँचे। सुदर्शन को देखकर ब्राह्मण रूप धारी धर्मराज ने कहा—धर्मप्रवर! मैंने सुना है आप करुणा की मूर्ति हैं। स्त्री न होने के कारण मुझे अत्यन्त कष्टों का सामना करना पड़ता है। इसीलिये मैं आपके आश्रम में आया हूँ।

मैं आपसे आपकी स्त्री का दान चाहता हूँ। क्या आप इसके लिये तैयार हैं ?

क्यों नहीं ! सुदर्शन ने प्रसन्नता पूर्वक उत्तर दिया—यह कोई बहुत बड़ी बात नहीं ब्राह्मण ! यदि ऐसी स्त्री को ले जाने से तुम्हारे कष्टों का अन्त हो तो तुम सानन्द मेरी स्त्री को अपने साथ ले जा सकते हो।

अब धर्मराज से न रहा गया। वे अपने वास्तविक रूप में प्रगट होगये। उन्होंने कहा, आप धन्य हैं और धन्य हैं आपकी भार्या ! आपकी और आपकी भार्या की यह करुणा शीलता ही आप लोगों को संसार में सदा के लिये अमर बना देगी।

—०—

अंबरीष

महाभाग अंबरीष का नाम किसने न सुना होगा। इन्होंने अपनी सात्विक प्रकृति से जिस प्रकार पैशाचिकप्रकृति का सामना किया वह संसार के लिये एक अनुकरणीय बात है। यद्यपि आज अंबरीष दुनिया में मौजूद नहीं हैं किन्तु उनकी कीर्ति कहानी इस समय भी दुनिया के कोने कोने में गूँज रही है।

महाराज अंबरीष एक प्रतापशाली नरेश थे। उनका राज्य सुदूर तक फ़ैला हुआ था। उनके विस्तृत साम्राज्य में कभी सूर्य अस्त ही न होते थे। इतना विस्तृत साम्राज्य ! किन्तु फिर भी

कहीं अशान्ति का नाम नहीं। लोग सुख और शान्ति का जीवन व्यतीत कर रहे थे। न कोई किसी पर अत्याचार करता था और न किसी को किसी प्रकार का कष्ट ही था। ऐसा ज्ञात पड़ता था, मानो अम्बरीप की सात्त्विक प्रकृति ने सबको मनुष्य से देवता बना दिया हो।

अम्बरीप अपनी प्रजा को अधिक प्यार करते थे। सहानुभूति और करुणा उनकी रग-रग में समाई हुई थी। वे ईश्वर प्रेम में भी अधिक आसक्त रहते थे। दिन हो या रात, शाम हो या सवेरा रात-दिन ईश्वर के प्रेम का प्याला पीते रहते थे। उनका वह अद्भुत ईश्वर प्रेम! उनकी समता क्या कहीं संसार में मिल सकेगी!

अम्बरीप का जीवन व्रत उपवास और यज्ञ-याग ही में व्यतीत हुआ करता था। यही उनके जीवन की साधना थी, यही उनके जीवन का महाव्रत था! वे सत्य और शिव का अनुभव भी करते थे। क्यों न हो, वे ईश्वर के चरणों के अनन्य प्रेमी थे न!

एक बार महाराज अम्बरीप ने एक साल तक द्वादशी का व्रत धारण किया। जब उनका व्रत समाप्त होगया, तब वे यमुना जी के किनारे जाकर शिव की आराधना में संलग्न हो गये। तीन दिन के बीतने पर वे किसी शुभ मुहूर्त्त में अपना व्रत तोड़ कर पारायन करने वाले थे।

समय का संयोग ! पारायन के पूर्व ही एक दिन दुर्वासा ऋषि इधर से जा निकले। ईश्वर के अनन्य प्रेमी महाराज अम्बरीष की दुर्वासा पर दृष्टि पड़ी। वे आसन छोड़ कर खड़े होगये। उन्होंने दुर्वासा से विनम्रता पूर्वक कहा—महाराज ! यदि आप आज हमारे यहाँ भोजन करें तो बड़ी कृपा हो !

दुर्वासा अम्बरीष की प्रार्थना क्यों न स्वीकार करते। वे स्नान तथा पूजा पाठ करने के लिये यमुना जी के किनारे चले गये। उसी दिन अम्बरीष का मरण दिवस भी था। वहाँ पूजा पाठ में दुर्वासा को देर हो गयी। इधर अम्बरीष के मरण का शुभ मुहूर्त्त निकला जा रहा था। वे चिन्ता में पड़ गये। निमंत्रित अतिथि को बिना भोजन कराये हुये वे भोजन कैसे करें ? इधर निमंत्रित व्यक्ति का कहीं पता नहीं। राजा सोचने लगे, क्या करें ? कैसे अपने धर्म की रक्षा करें ?

राजा ने इस सम्बन्ध में ब्राह्मणों से भी सलाह ली। ब्राह्मणों ने कहा, महाराज आप जल पान कर लें। जल पान करना व्रत में ही गिना जाता है। महाराज अम्बरीष ने उनकी आज्ञा का पालन कर अपने धर्म की रक्षा की। किन्तु इतने पर यदि उनका हृदय दुख और पश्चाताप के झूले पर झूलता रहा हो तो विस्मय क्या !

अब जरा इधर की बात सुनिये। जब दुर्वासा ऋषि यमुना नदी के किनारे से लौट कर आये और उन्हें यह मालूम हुआ कि राजा ने जल पान कर लिया है। तब तो वे आगबबूला

बन गये। उनके अंग प्रत्यंग से भयंकर क्रोध की चिनगारी सी छूटने लगीं। ऐसा जान पड़ने लगा, मानो वे अभी अपने क्रोध की भयंकर ज्वाला में महाराज अम्बरीष को भस्म कर डालेंगे।

दुर्वासा कुछ देर तक अंबरीष के लिये अपशब्द बकते रहे। इसके बाद उन्होंने क्रोधावेश में अपने सिर का एक बाल उखाड़-कर उसे भूमि पर पटका। तपस्या और साधना की अद्भुत शक्ति! उस बाल से एक प्रचंड काल रूप हत्या आविर्भूत हुई। उसके हाथों में तीव्र धारवाली तलवार थी। वह पृथ्वी को कंपायमान करती हुई अम्बरीष का सर्वनाश करने के लिये आगे बढ़ी। उसे क्या मालूम था कि विनम्रता और करुणा दोनों भगवान की प्रेरक शक्तियाँ बन कर अंबरीष की रक्षा करने के लिये खड़ी हैं।

अम्बरीष ईश्वर के अनन्य प्रेमी! करुणा और विनम्रता की साक्षात प्रतिमा! दुर्वासा की हत्या-शक्ति के द्वारा उनका सर्वनाश कैसे हो सकता था? अन्याय का महा चक्र चलता हुआ देखकर आखिर भगवान के सुदर्शन ने भी अपना रुख फेरा। वह भगवान की इच्छा से अम्बरीष की रक्षा के लिये चला, और एक क्षण में दुर्वासा की हत्या-शक्ति के सामने आकर डट गया। उसने दुर्वासा की हत्या शक्ति को देखते ही देखते जला कर खाक कर डाला!

दुर्वासा की हत्या-शक्ति को जला कर वह जब दुर्वासा की ओर घूमा, दुर्वासा के प्राणों के अन्दर एक भयंकर उद्वेग सा होने लगा। वे वहाँ से भगे और अपने लिये किसी सुरक्षित स्थान की खोज करने लगे। किन्तु चारों ओर सुदर्शन चक्र का महा प्रभाव! वे जहाँ भाग कर जाते, वहीं सुदर्शन उनके प्राणों के अन्दर छटपटाहट पैदा करता। जब उन्हें कहीं जगह न मिली, तब वे दुखी होकर ब्रह्मा जी के पास गये। वे एक साँस ही में अपने दुख की कहानी ब्रह्मा जी से कह गये। उन्हें यह आशा थी कि शायद ब्रह्मा जी के हृदय में करुणा और सहानुभूति का संचार हो जाय।

किन्तु ब्रह्मा जी ने तो कोरा जवाब दिया। उन्होंने कहा, मुझमें इतनी सामर्थ नहीं, जो मैं सुदर्शन चक्र से आपकी रक्षा करूँ? वेचारे क्या करें? सुदर्शन चक्र पीछा छोड़ता ही न था। अन्त में चारों ओर से निराश होकर शिवजी के पास गये। मगर यह क्या? यहाँ तो शिवजी ने भी अपनी असमर्थता प्रकट कर दी। उन्होंने कहा, सुदर्शन की शक्ति का सामना तो कोई नहीं कर सकता। यह किसी के वश की बात नहीं, जो वह सुदर्शन की शक्ति से आपकी रक्षा करे। यदि आप अपना कल्याण चाहते हैं तो विष्णु जी के पास जाइए। आपकी रक्षा करेंगे, वही इस भयानक विपत्ति से आपका उद्धार करेंगे।

वेचारे क्या करें दुर्वासा ऋषि! वैकुंठ लोक में विष्णु के पास पहुँचे। लगे उनसे अनुनय विनय करने और अपने अप-

राधों की क्षमा माँगने ! श्रीपति के हृदय में दया और सहानुभूति का संचार हो आया। उन्होंने दुर्वासा को आशीर्वाद देते हुये कहा, ब्राह्मण मैं विवश हूँ। सुदर्शन-शक्ति से मैं आपकी रक्षा तो कर सकता हूँ, किन्तु मेरे मन की बागडोर तो मेरे भक्तों के हाथ में है। जो मेरे नाम पर हर एक तरह से बिक चुके हैं, मैं भी उन्हीं के हाथ बिक चुका हूँ। इसलिये मैं कुछ नहीं कर सकता यदि आप अपनी रक्षा चाहते हैं तो अम्बरीष के पास जाइए। आपका अवश्य कल्याण होगा।

दुर्वासा को तो जैसे एक अवलंब सा मिल गया। वे दौड़े हुये अम्बरीष के पास पहुँचे। दया और करुणा की मूर्ति अम्बरीष! वे तो बिना अन्न ग्रहण किये हुये इनका रास्ता देख रहे थे। उन्होंने दुर्वासा की विपत्ति को देख कर भगवान से उनके लिये प्रार्थना की। भक्त प्रेमी भगवान! अम्बरीष की प्रार्थना से दुर्वासा विपत्ति से मुक्त होगये। अम्बरीष ने उन्हें आदर से खाना खिलाया, यही नहीं उनकी हर एक तरह से अभ्यर्थना भी की। अवरीष की इस साधुता और करुणा शीलता को देख कर दुर्वासा की उग्र प्रवृत्ति भी साधुता के रूप में बदल गई।

कश्यप

ऐसा कौन मनुष्य है, जिसने महर्षि कश्यप का नाम न सुना हो! भारतीय वायुमण्डल के अणु अणु में इनका नाम व्याप्त

है। लोग इनके नाम को आदर से याद करते हैं। इन्होंने अपनी न्यायशीलता से संसार में अपनी एक अमर सत्ता सी स्थापित कर ली है।

ब्रह्मा का नाम तो तुमने सुना होगा! ये ही सृष्टि के नियामक हैं। इनके दस मानस पुत्र थे। उन पुत्रों में एक का नाम मरीचि था। मरीचि का विवाह कर्दम ऋषि की लड़की सती कला के साथ हुआ था। इसी सती कला के गर्भ से कश्यप का जन्म हुआ था। ये मेरुपर्वत पर रहा करते थे। इनके जीवन का व्रत था, ईश्वर चिंतन। ये इसी में अपना समय बिताते। इसी में इनकी सात्विक आत्मा को अत्यन्त आनन्द भी प्राप्त होता था।

महर्षि कश्यप एक बड़े विद्वान थे। उन्होंने अपनी विद्वत्ता से हर एक हृदय पर अपना प्रभुत्व सा स्थापित कर लिया था। विद्वत्ता ही के समान इनकी तपस्या भी बहुत ऊँचे दरजे की थी। इन्होंने प्रजापति की सत्रह लड़कियों के साथ अपना विवाह किया था। क्या देवता, क्या मनुष्य, क्या राक्षस, सभी इन्हीं से पैदा हुये हैं। सारी दुनिया ही इनकी सन्तान हैं।

इनकी रानियों के नाम अदिति, दिति, दनु, काष्ठा, अरिष्ठा, सुरसा, मुनि, क्रोधवशा, काम्ना, सुरभि, सरमा, तिमि, विनता, कद्रू, पतंगी और यामिनी थे। विष्णु और वामन रूप धारी भगवान का अवतार अदिति ही के गर्भ से हुआ था। इसके अतिरिक्त अदिति से देवता, काष्ठा

से अश्व, अरिष्टा से गन्धर्व, क्रोधवशा से सर्प, मुनि से अप्सरा, काष्ठा से श्वेन, सुरभि से गौ, दनु से दानव, सुरसा से राक्षस, सरमा से श्वपद, तिमि से जलचर, विनता से गरुड़, कद्रू से नाग, पतंगी से आकाश में उड़ने वाले पक्षी और यामिनी से कीड़े-मकोड़े इत्यादि जीव उत्पन्न हुये थे।

कश्यप की न्याय-प्रियता जगत के कोने-कोने में प्रसिद्ध है। लड़का हो या स्त्री, भाई हो या और कोई दूसरा, वे न्याय से कभी मुख न मोड़ते थे! इसी न्याय-प्रियता और साधना की तेजस्विता ही के कारण उनका गौरव इतना ऊँचा हो सका। यह उनके जीवन की एक विशेष बात थी।

देखिये तो ज़रा कश्यप की न्याय-प्रियता!—इन्द्र अदिति का पुत्र था! कश्यप की भी उन पर अधिक ममता थी। एक दिन इन्द्र अपने काम काज में लगा था, कि उसके पास मय नाम का एक बहुत बड़ा दानव आया। वह इन्द्र को सादर प्रणाम कर उसके सामने खड़ा हो गया। उसने इन्द्र से कहा—महाराज! शंकर जी ने मुझे आपके पास यह खबर सुनाने के लिये भेजा है, कि उन्होंने देवराज की उपाधि आपको और विद्याधर चक्रवर्त्ती का पद सूर्यप्रभ को दिया है।

मय दानव की बात सुनते ही इन्द्र की नस नस में जैसे आग सी लग गयी। उसकी आँखों में अंगारे से बरसने लगे। वह नहीं चाहता था कि विद्याधर चक्रवर्ती का पद सूर्यप्रभ को मिले।

वह देवराज था। उसके हाथों में भी शक्ति की बागडोर थी। उसने इसी बागडोर के सहारे इस पद के लिये श्रुतशर्मा को ठीक कर रक्खा था। मगर वह क्या ? यह तो उसकी मनचीती बात उलटनी चाहती है! उसके क्रोध की आग भड़क उठी। इतने ज़ोर से भड़क उठी, कि वह मय दानव ही को मार डालने के लिये दौड़ा।

कश्यप भी वहीं पास ही बैठे हुये थे। उनसे इन्द्र की यह अत्याचार-लीला न देखी गई। उन्होंने उठ कर इसका विरोध किया। अब इन्द्र क्या करे? मय दानव को मारने के लिये उसका उठा हुआ वज्र नीचे झुक गया। उसने कश्यप से विनीत स्वर में कहा—पिता जी आप यह क्या कर रहे हैं! मैंने विद्या-धर चक्रवर्ती का पद श्रुतशर्मा को दिया है। लेकिन अब शंकर जी उसे सूर्यप्रभ को देना चाहते हैं। मैं उसे नहीं सहन कर सकता। यह दानव सूर्यप्रभ को यह पद दिलाने में सहायता पहुँचा रहा है। इसीलिये मैं इसका सर्वनाश कर रहा था। राजनीति शास्त्र से यह बात नीति विरुद्ध भी नहीं हो सकती।

इन्द्र!—कश्यप ने उत्तर दिया—तुम मेरे लड़के हो तो क्या, किन्तु मैं कभी अनीति का अनुसरण नहीं कर सकता। जिस प्रकार श्रुतशर्मा तुम्हारे लिये प्रिय हैं, उसी प्रकार सूर्य-प्रभ भी शंकर जी के लिये अत्यन्त प्रिय हैं। इसमें मय का कोई अपराध नहीं। वह तो सन्देश वाहक है। सन्देश वाहक को

कष्ट देना सब से बड़ा पाप है। यदि तुमने मय को किसी प्रकार का कष्ट दिया तो मैं तुम्हें अभिशाप की ज्वाला में जलाकर खाक़ कर दूँगा।

इन्द्र अब क्या करे? वह तो हत-बुद्धि सा हो गया। इन्द्र को सचेत कर कश्यप ने मय से कहा—मय! तुम्हारी धीरता प्रशंसनीय है। इन्द्र ने तुम्हें मारने के लिये वज्र उठाया, किन्तु तुमने उसका प्रतिकार तक न किया। मैं तुमपर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। मैं तुम्हें यह वरदान दे रहा हूँ कि न तो तुम्हारे शरीर पर मृत्यु और बुढ़ापा का प्रभाव होगा और न कोई हथियार ही उसे भेद सकेगा। मेरा पुत्र सुवास कुमार सदैव तेरी सहायता के लिये तैयार रहेगा। प्रबल से प्रबल पराक्रमी शत्रु भी तेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

यह है कश्यप की न्याय-प्रियता का एक छोटा सा उदाहरण। इसी तरह के अनेक उदाहरण उसके जीवन में भरे हुये हैं। ये अपने समय में एक प्रकाण्ड नेता ही के रूप में विख्यात थे। इनके हाथों में एक पूर्व शक्ति थी। अपनी इसी सर्व व्यापिनी शक्ति से तो ये आज इतने दिनों के बाद भी भारत-वासियों की जुबान पर पाये जाते हैं।

अनी माण्डव्य

पौराणिक काल में न जाने कितने ऐसे लोक-प्रवर महात्मा हो गये हैं जिन्होंने दया और सहानुभूति से संसार में अपने को सदा के लिये अमर बना लिया है। उन्हीं में एक महात्मा अनी माण्डव्य भी थे। ये बहुत बड़े तपस्वी थे। इनके हृदय में सात्त्विक वृत्तियां सदैव क्रीड़ा किया करती थीं। ये बहुत दिनों तक एक वृक्ष के नीचे बैठकर ईश्वर की साधना करते रहे। इनकी वह साधना, इनकी वह आराधना अपूर्व थी। अपनी साधना और आराधना में वे सारे संसार तक को भूल गये थे।

एक दिन ये अपनी साधना में संलग्न थे। संसार के बाहर क्या हो रहा है इसका उन्हें कुछ पता ही न था। कुछ चोरों ने राजा के यहाँ जाकर चोरी की। राजा के सिपाहियों ने उनका पीछा किया। भागते हुए चोरों की, साधना में संलग्न अनी माण्डव्य पर दृष्टि पड़ी। फिर क्या था, चोर चोरी का माल इन्हीं के चारों ओर रखकर स्वयं भी ढोंगी ध्यानी बनकर बैठ गये।

राजा के सिपाहियों ने देखा साधना में संलग्न अनी के चारों ओर दौलत! सब लगे उनसे तरह तरह का सवाल करने। किन्तु वे क्यों जवाब देने लगे? उनकी आत्मा तो ब्रह्मानन्द का आनन्द ले रही थी। सिपाहियों की दृष्टि अब बनावटी साधुओं पर पड़ी। उन सबों ने उन्हें पकड़ लिया। किन्तु साथ ही अनी माण्डव्य

को भी इन सब चोरों का मुखिया समझ उन्हीं के साथ इनको भी पकड़ ले गये।

सब के सब बन्दी रूप में राजा के सामने उपस्थित किये गये। राजा ने सबको फाँसी की सजा दे दी। एक एक करके सभी फाँसी के तख्ते पर चढ़ा दिये गये। किन्तु मुनी माण्डव्य जी फाँसी के तख्ते पर भी अपने प्राणों की रक्षा करते रहे। राजा की शूली उनका सर्वनाश न कर सकी। अब तो राजा अधिक चिन्तित हो उठा। मगर अब चिन्तित होने से होता है क्या ?

इधर यह कांड हो रहा था। उधर दूसरी ओर उसी राज में एक ब्राह्मण रहता था। उसका सारा शरीर कुष्ठ रोग से ग्रस्त हो गया था। कीड़े उसके शरीर में इधर से उधर चक्कर काट रहे थे। उसकी स्त्री बड़ी पतिव्रता थी। वह दिन रात अपने पति की सेवा में लगी रहती थी। वह उसके घावों को अपने हाथों से साफ करती और कीड़ों को बीन-बीन कर अलग फेंकती। वह जब तक अपने पति की आराधना न कर लेती तब तक उसकी आत्मा को संतोष न होता। वह जब पति की सेवा कर लेती तब भिक्षा के लिये जाया करती थी।

एक दिन ब्राह्मण की इच्छा सुप्रवाहिता नदी में स्नान करने को हुई। वह पति को कन्धे पर बिठाकर नदी की ओर चल पड़ी। इसी समय एक सुन्दरी वेश्या भी स्नान करने के लिये नदी के तट पर गई हुई थी। कुष्ठी ब्राह्मण की वेश्या पर दृष्टि

पड़ी। वह उस पर मुग्ध होगया। किन्तु उसका कुष्ठ से गलित शरीर! वेश्या उसे कैसे स्पर्श कर सकती थी! ब्राह्मण अधिक चंचल हो उठा। ब्राह्मणी को इन सब बातों का कुछ पता ही नहीं! वह तो अपने पति के घावों को साफ़ करने में लगी हुई थी। उसने घावों को साफ़ किया, कीड़ों को निकाला, और पति को स्नान करवाया। फिर वह अपने पति को कन्धे पर बिठा कर घर लौट आई। घर पहुँच कर वह खाने पीने का प्रबन्ध करने लगी। उसे क्या मालूम थी कि वेश्या ने ब्राह्मण के हृदय में घर कर लिया है।

उसने पति को खिला-पिलाकर शय्या पर सुला दिया। फिर वह उसका पैर दाबने लगी। अब उसका ध्यान ब्राह्मण की चंचलता पर गया। पतिव्रता स्त्री! पति के मन की चंचलता देखकर जैसे उद्विग्न सी होगई। उसने अपने पति से उसका कारण पूछा। ब्राह्मण ने भी अब अपने मन की बात गुप्त रखना ठीक न समझा। उसने अपने हृदय की बात अपनी स्त्री से बता दी।

ब्राह्मण की स्त्री के हृदय में न चिन्ता और न उद्वेग! अपने पति की इस बात को सुनकर जैसे वह प्रसन्नता से नाच उठी। पतिव्रता थी न! वह अपने पति की इच्छा पूरी कराने में संलग्न होगई। वह प्रति दिन तड़के उस वेश्या के घर जाती, और झाड़ू से उसका घर साफ़ करके लौट आती। वेश्या को कुछ पता ही न चलता। वह जब अपने घर को साफ़-सुथरे रूप में

देखती, तब उसे अत्यन्त आश्चर्य होता। वह सोचने लगती, यह कौन आती है? कौन मेरे घर को प्रति दिन साफ़ कर जाती है?

आखिर एक दिन वह उसे पकड़ने के लिये तैयार होगई। वह रातभर जागती रही। सवेरे जब ब्राह्मणी झाड़ू लेकर घर साफ़ करने के लिये आई, तब उसने उसे पकड़ लिया। वेश्या ने ब्राह्मणी से पूछा—देवी तू कौन है? तू क्यों प्रतिदिन मेरे लिये इतने कष्ट को सहन करती है?

ब्राह्मणी तो यह चाहती ही थी। उसने अपने और अपने पति का सारा हाल वेश्या से बता दिया। वेश्या ने उसकी बातों को सुनकर जवाब दिया—तुम चिन्ता न करो देवी! आज तुम अपने पति को यहाँ लिवा लाना।

ब्राह्मणी की तो जैसे सारी चिन्ता ही दूर होगई। वह ठीक समय पर पति को अपने कंधे पर बिठा कर वेश्या के घर लिवा लेगई। चालाक और बुद्धिमती वेश्या, उसने सोने, चाँदी, ताँबे और पीतल के पात्रों में जल भर कर ब्राह्मण के सामने रख दिया। ब्राह्मण ने बारी-बारी से सभी पात्रों का जलपान किया। सबसे पीछे वेश्या ने मिट्टी के पात्र में उसे जल पीने के लिये दिया। ब्राह्मण ने उसे भी पीलिया।

अब वेश्या ने ब्राह्मण से पूछा, ब्राह्मण बताओ, तुम्हें किस पात्र के जल से परितृप्ति मालूम हुई?

मिट्टी के पात्र से—ब्राह्मण ने उत्तर दिया।

ब्राह्मण !—वेश्या ने कहा—अब इसी से समझ लो। मैं भी इसी तरह वह पात्र हूँ, जिससे कभी किसी को संतृप्ति नहीं प्राप्त हो सकी। मेरी बाहरी चटक मटक अवश्य देखने की चीज है, किन्तु मेरे अन्दर एक विष है, एक ज़हर है। वह जहर दूसरों की आत्मा का सर्वनाश करता है।

वेश्या की ज्ञान भरी बातें! ब्राह्मण के हृदय में जैसे ज्ञान का प्रकाश सा चमक पड़ा। उसने वेश्या को आदर से प्रणाम किया। इससे यदि ब्राह्मणी को भी अधिक आनन्द मिला हो तो आश्चर्य क्या ?

ब्राह्मणी अपने पति को कंधे पर बिठा कर फिर अपने घर की ओर चली। अँधेरी रात, मार्ग कहीं दिखाई न देता था। उधर श्मशान में अनी माण्डव्य का शरीर सूली पर लटक रहा था। अचानक ब्राह्मणी के कंधे पर लदे हुये ब्राह्मण के पैर से अनी माण्डव्य का शरीर टकरा गया। पतिव्रता स्त्री के स्पर्श से अनी माण्डव्य की साधना भंग होगई। उनके नेत्र खुल गये। साथ ही उसके शरीर से क्रोध की चिनगारियाँ भी छूटने लगीं। उन्होंने अधिक क्षुब्ध हो कर श्राप दे दिया। हे स्त्री! जिस प्रकार तुमने हमारी साधना भंग कर मुझे अत्यन्त कष्ट पहुँचाया है, उसी प्रकार सूर्योदय होते ही तुम्हारा पति मर जाय और तू भी दुख की भागिनी बने।

अनी माण्डव्य ऋषि का श्राप! वह सत्य से खाली कैसे होता! किन्तु इधर भी पतिव्रता की महान् शक्ति! ब्राह्मणी ने

उसी शक्ति से आकाश की ओर देखकर कहा—सूर्यदेव! अब तुम उदय ही न होना!

पातिव्रत की महान् शक्ति! सूर्यदेव सचमुच न दिखाई दिये। समस्त संसार का अन्धकार ज्यों का त्यों बना रहा। सभी जीव व्याकुल होने लगे। देवता ऋषि सभी दौड़कर उस पतिव्रता ब्राह्मणी के पास गये। देवताओं ने हाथ जोड़कर कहा—माता! सारे जगत का सर्वनाश होना चाहता है! सूर्योदय न होने से संसार के सभी जीव अत्यन्त व्याकुल हो रहे हैं!

तो मैं क्या करूँ?—ब्राह्मणी ने उत्तर दिया—आप लोगों को सारे संसार की चिन्ता है। किन्तु मुझे तो अपने ब्राह्मण की चिन्ता है। सूर्योदय हुआ नहीं, कि ये इस संसार से चल बसे।

देवताओं ने हाथ जोड़कर कहा—माता! ऋषि की बात तो अब किसी तरह नहीं टल सकती। किन्तु तुम संसार के कल्याण के लिये सूर्योदय तो होने दो।

ठीक है—ब्राह्मणी ने उत्तर दिया—किन्तु उसी संसार में तो मैं भी हूँ। आप लोग संसार के कल्याण के साथ मेरे कल्याण को भूल जाते हैं? आप देवता हैं, आप में अनेक अद्भुत शक्तियाँ निवास करती हैं। फिर आप लोग मेरा कल्याण क्यों नहीं करते? क्यों नहीं मेरे पति को मरने से बचाते?

देवताओं ने उत्तर दिया—महिमावती! तुम पतिव्रता हो। तुम्हारे हृदय में अखण्ड शक्तियाँ निवास करती हैं। तुम स्वयं अपना

कल्याण कर सकती हो। जगत की कोई भी शक्ति तुम्हारा सामना नहीं कर सकती। किन्तु माता, संसार का सर्वनाश हो रहा है। जगत के सारे यज्ञादि बन्द हो गये हैं। पृथ्वी की उर्वरा शक्ति नष्ट सी होती जा रही है। इसलिये जगत के कल्याण के लिये तुम्हें सूर्योदय तो होने ही देना चाहिये।

किन्तु यदि जगत के कल्याण के साथ ही मेरे जीवन का सूर्य अस्त होगया तो?—ब्राह्मणी ने उत्तर दिया—मेरा जीवन तो रात के समान अंधकार पूर्ण हो जायगा।

माता!—देवताओं ने कहा—ऋषि की बात को सत्य प्रमाणित करने के लिये तुम्हारे पति की मृत्यु एक क्षण के लिये हो जायगी। किन्तु इसके बाद वह तुम्हें सुन्दर शरीर से युक्त प्राप्त होगा। अब तुम जगत के कल्याण के लिये सूर्योदय होने दो।

फिर क्या था, ब्राह्मणी ने सूर्य को निकलने का आदेश दे दिया। सूर्य उदय हुये। सूर्योदय के साथ ही कुष्टी ब्राह्मण भी इस संसार से चल बसा। ब्राह्मणी मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ी किन्तु एक क्षण के बाद फिर ब्राह्मण जी उठा। इस बार उसका शरीर भी बदल गया। अब तो उसके शरीर से एक दिव्य ज्योति सी निकल रही थी। ब्राह्मणी ने सचेत होकर अपने पति के शरीर की ओर देखा। उस समय उसे कितना सुख मिला होगा, कितना आनन्द प्राप्त हुआ होगा! वाह रे पातिव्रत धर्म! सचमुच तुममें संसार की अद्भुत शक्तियाँ निवास करती हैं!

अनी माण्डव्य बहुत दिनों तक सूली के ऊपर ही ईश्वर की साधना में संलग्न रहे। जब राजा को यह बात मालूम हुई तब वह बहुत दुखी हुआ। उसने ऋषि के पास जाकर उनसे अपने अपराधों की माफी माँगी। ऋषि की सकरुण आत्मा! उन्होंने राजा को क्षमा कर दिया। राजा ने उन्हें सूली से उतारा। सूली के सभी काँटे उनके शरीर से बाहर निकाले गये। किन्तु सूली का अग्र भाग उनके शरीर से बाहर न निकल सका। अनी माण्डव्य सूली के उस अग्र भाग को धारण किये ही उग्र तपस्या में संलग्न हो गये। इसीलिये उनका नाम अनी माण्डव्य पड़ा। क्योंकि संस्कृत में अनी शब्द का अर्थ 'नोक' होता है।

एक दिन अनी माण्डव्य साधना में संलग्न थे। सहसा उनके हृदय में यह विचार उत्पन्न हुआ, कि मैंने ऐसा कौन सा भयानक पाप किया था, जिससे मुझे सूली पर चढ़ना पड़ा। उन्होंने बहुत सोचा, बहुत विचार किया, किन्तु उनकी समझ में कुछ न आया। अन्त में वे इसके लिये धर्मराज के पास गये। उन्होंने धर्मराज से भी यही सवाल किया। धर्मराज ने चित्रगुप्त से पूछ कर बताया, कि आपने लड़कपन में एक पतिंगे की पूँछ में बड़ी निर्दयता से एक कील ठोंक दी थी, इसीलिये आपको भी सूली के ऊपर चढ़ना पड़ा।

धर्मराज की बात सुनकर अनी माण्डव्य के शरीर में आग सी लग गई। उन्होंने आँखों में क्रोध का भाव भर कर कहा—धर्मराज, लड़कपन के अपराध का इतना कठोर दण्ड! तूने

मेरे साथ शूद्रों का सा व्यवहार किया है। इसलिये मैं तुझे यह श्राप देता हूँ, कि जाओ तुम शूद्र बन जाओ। साथ ही मैं इस व्यवस्था की घोषणा कर रहा हूँ, कि चौदह साल की उम्र तक के किये हुये अपराधों के लिये किसी प्रकार का दण्ड न होगा।

अनी माण्डव्य का श्राप! धर्मराज को भी उसका फल भोगना पड़ा। वे शूद्र के रूप में विदुर बन कर संसार में उत्पन्न हुये। क्यों न हो, ईश्वर के सच्चे प्रेमियों की कही हुई बात का होना ही जीता-जागता परिणाम हुआ करता है!!

महाराज सगर

बहुत दिन हुये, भारतवर्ष में एक बहुत बड़ा प्रतापी राजा राज्य करता करता था। उसका नाम बाहुक था। वह अत्यन्त ऐश्वर्यशाली और प्रतापशाली तो था ही, उसकी मानसी वृत्तियाँ भी सदैव ईश्वर प्रेम का प्याला पीती रहती थीं। कुछ दिनों के बाद उसे राज-पाट से विरक्ति हो गई। वह सारा राज्य छोड़ कर तपस्या के लिये जंगल को चला गया।

ईश्वर की इच्छा! वन में राजा का स्वर्गवास हो गया। रानी की इच्छा हुई, कि वह भी अपने पति का अनुगमन करे। किन्तु वह उस समय गर्भवती थी। महात्मा और्व ने उसे सती न होने दिया।

राजा के और भी कई रानियाँ थीं। जब उन सबों को इस रानी के गर्भवती होने का समाचार मिला, तब वे सब जल भुन उठीं। सबों ने धोके से उसे विष पिला दिया। विष पिला दिया इसलिये, कि उसकी तो मृत्यु हो जाय, साथ ही उसके गर्भस्थ बालक का भी सर्वनाश हो जाय। किन्तु भगवान की इच्छा ! न बालक ही मरा और न रानी ही। बालक उत्पन्न हुआ, और उत्पन्न हुआ बड़ा प्रतापशाली। यह वही बालक है, जिसे सारी दुनिया आज महाराज सगर के नाम से याद करती है।

बालक सगर प्रतापशाली तो था, किन्तु उसके भाग्य में मातृ-सुख न लिखा था। उसके पैदा होते ही उसकी माँ इस संसार से चल बसी। अब उसकी रक्षा का भार महात्मा और्व के सिर पर आ पड़ा। वे प्यार और सहानुभुति से उसका पालन पोषण करने लगे। उन्होंने उसका पालन-पोषण ही नहीं किया, बल्कि उसे तरह-तरह की शिक्षायें भी दीं। महात्मा और्व की शिक्षाओं से बालक सगर थोड़े ही दिनों में अधिक निष्णात बन गया।

एक बार चन्द्र ग्रहण लगा। वाराणसी में चारों ओर से सागर की भाँति भीड़ उमड़ रही थी। महात्मा और्व भी बालक को साथ में लेकर वाराणसी जा पहुँचे। वहाँ और भी बहुत से ऋषि-मुनि एकत्र हुये थे। सहसा वशिष्ठ की दृष्टि सगर के चमकते हुये मुखड़े पर पड़ी। उन्हें आश्चर्य हुआ। उन्होंने

आश्चर्य की दृष्टि से सगर की ओर देख कर और्व से पूछा; यह बालक कौन है ? इसके पिता का क्या नाम है ?

और्व ने उत्तर दिया यह हमारे शिष्य बाहुल का पुत्र है। इसे मैंने ही शिक्षा भी दी है। मैं चाहता हूँ कि इसके द्वारा फिर सूर्य वंश की पताका संसार में ऊँची हो। इसीलिये इस बालक को किसी भाँति राज-सिंहासन पर बैठाना चाहिये।

महात्मा और्व की बात सुनकर वशिष्ट जी बहुत प्रसन्न हुये। उन्हें मानो कोई अनमोल चीज़ मिल गई हो। उन्होंने और्व को इसके लिये धन्यवाद दिया। धन्यवाद ही नहीं दिया, उन्होंने बालक सगर को अधिक शक्तिशाली बनाने के लिये यज्ञ-याग भी करने आरंभ कर दिये। क्यों न हो, वे सूर्यवंश के स्वयं सच्चे हितेच्छु थे न!

अभी यज्ञ हो ही रहा था, कि क्षत्रियों का संहार करने वाले परशुराम जी वहाँ पहुँच गये। सहसा उनकी दृष्टि बालक सगर के ऊपर पड़ी, बस फिर क्या ? उनके क्रोध की ज्वाला-मुखी भड़क उठी। उन्होंने सगर को मारने के लिये अपना परसा उठाया और कहा—मैंने क्षत्रियों के संहार का व्रत धारण किया है। मुझे दुख है कि आप लोग मेरी सहायता न करके मेरे दुश्मनों की संख्या बढ़ा रहे हैं।

किन्तु महाराज!—क्षत्रियों ने उत्तर दिया—यह बालक तो ब्राह्मणों का अत्यन्त भक्त है। भविष्य में इसके द्वारा ब्राह्मण समाज का अधिक कल्याण भी होगा। इसलिये इसे मारना

उचित नहीं। इसे मारना, ब्राह्मण समाज के हितों का सर्वनाश करना है।

मगर परशुराम जी क्यों मानने लगे? ऋषियों ने परशुराम को विश्वास दिलाने के लिये सगर को एक धधकते हुये अग्नि कुंड में डाल दिया। आश्चर्य! सगर का एक बाल भी बाँका न हुआ। वे ज्यों के त्यों अग्नि कुण्ड से बाहर निकल आये। अब तो परशुराम के हृदय में भी सगर के लिये प्रेम उत्पन्न होगया प्रेम ही नहीं उत्पन्न हुआ, बल्कि उन्होंने सगर के राज्याभिषेक के लिये सहायता भी प्रदान की।

प्रतापशाली सगर! सिंहासन प्राप्त करने के थोड़े ही दिनों बाद उन्होंने अपने समस्त शत्रुओं पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। चारों ओर उनकी विजय-दुन्दुभी सी बजने लगी। जिसे देखिये वही उनके प्रताप की दुहाई दे रहा है, जिसे देखिये वही उनकी कीर्ति गाथा का गान कर रहा है।

किन्तु इतने पर भी महाराज सगर के मन में सुख न था। वे सदैव एक गंभीर चिन्ता के भूले पर भूला करते थे। उनकी कोई सन्तान न थी। बहुत दिन बीत जाने पर भी जब उन्हें किसी सन्तान का दर्शन न हुआ, तब वे तपस्या करने के लिये हिमालय पर्वत पर चले गये।

वे बहुत दिनों तक तपस्या और साधना में लगे रहे। आखिर एक दिन भृगु जी वहाँ जा पहुँचे। सगर की तपस्या को देख कर भृगु जी उन पर अधिक प्रसन्न हो उठे। उन्होंने राजा को आशी-

र्वाद दिया—जाओ, तुम्हारी रानी के गर्भ से साठ हज़ार पुत्र उत्पन्न होंगे। भगवान की इच्छा ही तो है! कहाँ महाराज सगर एक पुत्र के लिये परेशान थे, और कहाँ उन्हें साठ हज़ार पुत्रों का वरदान प्राप्त हो गया। फिर उनकी प्रसन्नता का क्या ठिकाना? वे आनन्द में मग्न होते हुये अपनी राजधानी में लौट गये।

भृगु का आशीर्वाद! वह समय पाकर फूला और फला। महाराज सगर उसकी शक्ति से साठ हज़ार लड़कों के पिता हुये। बस फिर क्या? उन्होंने थोड़े से ही दिनों में समस्त संसार के ऊपर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। सारी दुनिया श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से उनकी पूजा करने लगी। वे जगत के कोने कोने में चक्रवर्त्ती राजा के नाम से विख्यात हो उठे। उन्होंने ताल जंघ, यवन, शक और हैहय, इत्यादि दुर्दान्त वर्वरों को जीत कर अपनी मुठ्ठी में कर लिया। महर्षि वशिष्ठ की आज्ञानुसार दुर्दान्त जातियों को समुचित दण्ड भी दिया। किसी का सिर उड़ा दिया गया, किसी की चोटी कटवा दी गई। किसी की दाढ़ी बनवा दी गई, और किसी को लँगोटी पहनाई गई। सब किसी न किसी रूप में दण्डित करके राज सीमा से बाहर निकाल दिये गये।

इस भाँति राज के चारों ओर सुख और संतोष का साम्राज्य सा छा गया। अब महाराज सगर ने अश्वमेध यज्ञ कराने की तैयारी की। यज्ञ का घोड़ा छोड़ा गया। महाराज सगर की इस विश्व व्यापी कीर्त्ति को देख कर देवताओं का माथा ठनका।

सब के सब सोचने लगे, कहीं सगर अपने पुण्यों की शक्ति से देवलोक पर अपना अधिकार न स्थापित कर ले। बस फिर क्या ? वे भी यज्ञ में विघ्न उपस्थित करने के लिये कमर कस कर तैयार हो गये। उन्होंने अपनी इसी तैयारी के परिणाम स्वरूप सगर के यज्ञ का घोड़ा चुरा कर छिपा लिया।

प्रतापशाली राजा सगर ! किसकी शक्ति जो उनके घोड़े को चुरा कर छिपा ले। सगर के साठों हज़ार लड़के घोड़े की खोज में निकल पड़े। सभी दिशायें छान डाली गईं किन्तु कहीं घोड़े का पता न चला। अब वे पूर्व की ओर चले। चलते चलते वे महर्षि कपिल के आश्रम में पहुँचे। वहीं घोड़ा बँधा हुआ था। यह सब देवताओं की चाल थी। देवताओं ने यह इसलिये किया था, कि सगर के लड़के जब घोड़े को खोजते हुये वहाँ पहुँचेंगे और घोड़े को देख कर शोरगुल मचायेंगे, तब कपिल जी क्रोध में श्राप देकर उन्हें भस्म कर डालेंगे।

हुआ भी वही, जो देवताओं ने सोचा था। सगर के लड़के घोड़े की खोज करते हुये जब कपिल मुनि के आश्रम में पहुँचे, तब घोड़े को देख कर शोरगुल मचाने लगे। शोरगुल से कपिल मुनि की साधना भंग होगई, उन्होंने अपनी आँखें खोल कर सगर के लड़कों से इसका कारण पूछना चाहा। किन्तु उनकी आँखों में इतना तेज था, कि सगर के सभी लड़के जल कर भस्म हो गये।

महाराज सगर की एक और रानी थी। उसका नाम नान्नी था। उसके भी एक लड़का था। लड़के नाम असमंजस था। वह नगर के बालकों को बहका कर बाहर ले जाता। उनके साथ खेलता और फिर उन्हें सरयू नदी में डुबो देता। इस तरह उसने नगर के बहुत से लड़कों को सरयू नदी में डुबो दिया। महाराज सगर उसके इस काम से उस पर बहुत कुपित हुये। उन्होंने उसे घर से बाहर निकाल दिया।

असमंजस पूर्व जन्म का एक योग भ्रष्ट योगी था। वह घर से निकाला जाने पर जंगल में तपस्या करने के लिये चला गया। उसने अपनी तपस्या की शक्ति से सभी बालकों को जीवित अवस्था में सरयूनदी से बाहर निकाला। उसके इस अद्भुत काम को देख कर सब लोग विस्मय में पड़ गये। विस्मय ही में नहीं पड़े, बल्कि उसके पिछले कार-नामों को भूल कर उस की सराहना भी करने लगे। इससे अस-मंजस की आत्मा को भी कुछ सुख और संतोष ही प्राप्त हुआ होगा।

असमंजस का एक पुत्र था। उसका नाम अंशुमान था। वही युवराज के रूप में राज का सारा काम काज देखता था। जब न तो यज्ञ का घोड़ा मिला; और न साठ हज़ार लड़के ही लौटे, तब सगर ने अंशुमान को उनकी खोज में भेजा। अंशु-मान चारों ओर उनकी खोज करता हुआ कपिल मुनि के आश्रम में पहुँचा। उसकी दृष्टि भी घोड़े के ऊपर पड़ी, किन्तु

उसने युक्ति से काम लिया। उसने घोड़े के लिये कपिल मुनि से अत्यन्त प्रार्थना की। कपिल मुनि उसकी प्रार्थना से प्रसन्न हुये, तब उन्होंने अंशुमान से कहा—अंशुमान! तुम घोड़े को लेजाकर अपने पितामह के अधूरे यज्ञ को पूरा करो। और अगर तुम अपने चाचाओं की मुक्ति चाहते हो तो उसके लिये तुम्हें पवित्र सलिला जान्हवी को इस पृथ्वी पर लाना पड़ेगा।

अंशुमान घोड़ा लेकर अपने घर गया। महाराज सगर का अश्वमेध यज्ञ पूरा हुआ। अन्त में वे अंशुमान को राज सिंहासन पर बैठा कर स्वर्गलोक को चले गये। उसका जैसा प्रतापी राजा, शायद ही इस संसार में अब कोई दूसरा हो।

भगीरथ

भगीरथ का नाम तो तुमने सुना होगा! वे परिश्रम और संलग्नता की प्रतिमूर्ति थे। उन्होंने अपने परिश्रम और अपनी संलग्नता ही से ऐसा अद्भुत काम कर दिखाया; जो सारे जगत के लिये एक बहुत बड़े महत्त्व की चीज़ है। तुम्हें यह सुनकर अत्यन्त आश्चर्य होगा, कि पहले गंगा जी पृथ्वी पर नहीं थीं। महाराज भगीरथ ही अपने सतत प्रयत्न और साधना से गंगा जी को स्वर्ग से पृथ्वी पर लाये। ज़रा सुनो तो उनकी पुण्य कहानी!

तुम अभी यह पढ़ चुके हो, कि कपिल मुनि ने अंशुमान को यह आदेश दिया था, कि अगर तुम अपने चाचाओं की सद्गति चाहते हो तो गंगा जी को स्वर्ग से नीचे ले आओ! उन्हीं के कथनानुसार अंशुमान गंगा जी के लिये तपस्या में संलग्न रहा। किन्तु उसकी तपस्या से गंगा जी न प्रसन्न हुईं। वह मर गया।

उसके बाद महाराज दिलीप गद्दी पर बैठे। उन्होंने भी गंगा जी के लिये घोर तपस्या की, किन्तु गंगा जी पृथ्वी पर न आईं। दिलीप के मरने पर महाराज भगीरथ गद्दी पर बैठे। उन्होंने भी अपने पूर्वजों के उद्धार को अपने जीवन का व्रत बनाया। वे भी जंगल में जाकर गंगा जी के लिये तपस्या करने लगे।

उनकी प्रबल तपस्या को देखकर ईश्वर का सिंहासन भी हिल गया। अब गंगा जी से न रहा गया। वे भगीरथ के सामने प्रगट हुईं। उन्होंने भगीरथ से कहा—भगीरथ! मैं तुम्हारी तपस्या से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। बोलो, तुम क्या चाहते हो?

माता!—भगीरथ ने उत्तर दिया—मैं जो चाहता हूँ। वह आप से छिपा नहीं है। मेरे पूर्वजों के उद्धार के लिये आप का भूमिपर अवतीर्ण होना होगा!

भूमि पर आने में मुझे कोई एतराज नहीं है भगीरथ!—गंगा ने कहा—किन्तु मेरे हृदय में दो सन्देह हैं। मेरी धार जब स्वर्ग से नीचे गिरेगी तब वह भूमि को फोड़ती हुई पाताल में चली जायगी। उसे भूमि पर कौन रोक सकेगा? दूसरी बात यह है कि संसार में

पापियों की संख्या अधिक है। वे सब के सब मेरे जल में स्नान करके मुक्ति पाना चाहेंगे ? फिर मैं सबको कहाँ तक मुक्ति देती फिरूँगी !

"माता !—भगीरथ ने उत्तर दिया-आपकी प्रबल धारा को शिवजी अपने सिर पर धारण करेंगे। उसकी आप चिन्ता न करें ! वह प्रेम और श्रद्धा ही के अनुसार लोगों को प्राप्त हुआ करेंगी !

अब गंगा जी विवश होगईं। उन्हें भूमि लोक में आने के लिये अपनी स्वीकृति देनी ही पड़ी। भगीरथ जी शिव जी की प्रसन्नता के लिये फिर तपस्या में संलग्न होगये। शिवजी ठहरे आशुतोष ! वे भगीरथ की तपस्या से प्रसन्न होकर गंगा जी की प्रबल धार को अपने सिर पर धारण करने के लिये तैयार हो गये।

बस फिर क्या ? गंगा जी प्रबल वेग से स्वर्ग से चल पड़ीं। उनका वह प्रबल वेग उनका वह भीषण शब्द !! ऐसा जान पड़ता था मानो वे पृथ्वी को फोड़ती हुई पाताल में प्रविष्ट हो जायँगी ! किन्तु शिवजी ने रोक कर उन्हें अपने जटा-जूटों में छिपा लिया।

बहुत दिनों तक गंगा जी शिवजी को जटा-जूटों में छिपी रहीं। अब भगीरथ जी फिर चिन्ता में पड़ गये। वे सोचने लगे गंगा जी स्वर्ग से नीचे उतरीं तो शंकर जी की जटा-जूटों में छिप गईं। मेरा तो कोई मतलब ही नहीं सिद्ध हुआ। मैंने जिस

काम के लिये इतना कठिन परिश्रम किया वह तो अभी ज्यों का त्यों पड़ा है! भगीरथ जी फिर शिवजी की प्रसन्नता के लिये तपस्या करने लगे!

जब शिवजी प्रसन्न हुये तब भगीरथ जी ने हाथ जोड़कर उनसे कहा—भगवान्! मेरा तो कुछ काम ही न हुआ। मैंने गंगा जी को पृथ्वी पर आने के लिये इसलिए तैयार किया था कि उनके पवित्र जल के स्पर्श से मेरे पूर्व पुरुषों का उद्धार हो! किन्तु अफसोस, उन्हें तो आपने अपनी जटा-जूटों में छिपा लिया। फिर मेरी इच्छा कैसे पूरी होगी? मेरे पूर्व पुरुषों का कैसे उद्धार होगा?

भगीरथ की प्रार्थना सुनकर शिवजी ने अपनी एक जटा निचोड़ दी। गंगा जी जल का रूप धारण करके फिर बह चलीं। आगे आगे भगीरथ का रथ चला और पीछे गंगा जी। गंगा जी अनेक स्थानों को काटती और अनेक देशों में परिभ्रमण करती हुई उस स्थान में पहुँची जहाँ सगर के पुत्रों की भस्म पड़ी थी। गंगा जी के पवित्र जल के स्पर्श से भगीरथ के साठों हज़ार पूर्व पुरुष एक क्षण में मुक्ति पद को प्राप्त हो गये।

यह है महाराज भगीरथ के सतत प्रयास का फल! तुम्हें भी महाराज भगीरथ के जीवन से सतत प्रयास का मनोहर पाठ पढ़ना चाहिये!

परशुराम

भारतीय धर्म प्रेमियों में परशुराम का नाम तो सूर्य और चन्द्र की भाँति प्रकाशमान है। जिसने रामायण पढ़ी होगी, जनकपुर में होनेवाले धनुष-यज्ञ की गाथा उनकी आँखों के सामने नाचती होगी। परशुराम का चित्र अपने आप सामने आता होगा। कहना न होगा कि पौराणिक महापुरुषों में परशुराम का एक विशेष स्थान है। उन्होंने पिता की आज्ञा पालन का एक ऐसा उत्कट उदाहरण संसार के सामने रक्खा है कि उसे देखकर दुनिया आश्चर्य करती है।

परशुराम जी के पिता का नाम जमदग्नि था। जमदग्नि जाति के ब्राह्मण थे किन्तु इन्होंने अपना विवाह क्षत्रिय राजा प्रसेन की लड़की के साथ किया था। इनकी स्त्री का नाम रेणुका था।

जमदग्नि को रेणुका के गर्भ से पाँच लड़के पैदा हुये थे। सबसे छोटे लड़के का नाम राम था। ये बड़े तेजस्वी और प्रतिभा-शाली थे। इनकी आकृति पर सदैव एक आभा सी झूलती रहती थी। ये हमेशा अपने कन्धे पर एक परसा धारण किये रहते थे। परसा धारण करने ही के कारण लोग इन्हें परशुराम कहने लगे।

परशुराम जी अपने पिता के बड़े भक्त थे। ये उनकी हर एक बात को मानते और उसके अनुसार कार्य करने की कोशिश

भी किया करते थे। सुनिये ज़रा इनके आज्ञा-पालन की कहानी!

एक दिन जमदग्नि जी स्नान करने के लिये बैठे। संयोग-वश पानी कम होगया। रेणुका पानी लेने के लिये नदी के किनारे गई। किन्तु उसे वहां कुछ देर हो गई। इधर जमदग्नि जी का हवन-काल बीत गया। जब रेणुका पानी लेकर वापस आई, तब जमदग्नि जी उसे देखकर आग बबूला हो गये। उनकी नस नस में जैसे एक भयंकर आग सी लग गई। उन्होंने क्रोधावेश में अपने लड़कों को यह आदेश दिया कि इसका सिर काट डालो!

पिता की आज्ञा से माता का शिरोच्छेदन! जमदग्नि के चारों लड़कों ने माता का सिर काटने से साफ़ इनकार कर दिया। किन्तु परशुराम जी के कठोर हृदय में दया का संचार न हुआ। इन्होंने आगे बढ़कर रेणुका का सिर काट ही डाला। अपने चारों भाइयों को भी स्वर्ग में पहुँचा दिया।

ऐसी कठोर आज्ञा का पालन! और पालन बड़ी प्रसन्नता के साथ। जमदग्नि का रोम रोम प्रसन्नता से हँस उठा। उन्होंने परशुराम की ओर प्रसन्नता की दृष्टि से देखा और कहा—बेटा मैं तुम्हारे इस कृत्य से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। बोलो तुम इसके परिणाम स्वरूप मुझसे क्या चाहते हो!

पिता जी!—परशुराम ने उत्तर दिया—आपकी प्रसन्नता ही मेरे लिये सब कुछ है। किन्तु जब आप मुझे कुछ देना ही चाहते हैं तब कृपा करके ऐसा वर दीजिये जिससे मेरी माँ

और मेरे चारों भाई फिर से जीवित हो उठें। साथ ही वे यह भूल जांय कि मैंने उनका शिरोच्छेदन किया है।

परशुराम जी की इस बात के समाप्त होते ही जमदग्नि जी की आंखों में आनन्द का सागर सा उमड़ चला। उन्होंने फिर एक बार परशुराम की ओर देखा। और परशुराम के कथनानुसार ही अपनी साधना-शक्ति से रेणुका और चारों पुत्रों को फिर से जिला दिया। किसी को यह ज्ञान भी न रहा कि किसने और किसलिये किसका सिर काटा था। जमदग्नि के आश्रम में फिर शान्ति और प्रेम की अनोखी धारा सी प्रवाहित हो उठी।

उन्हीं दिनों एक प्रतापशाली क्षत्रिय राजा राज करता था। उसका नाम कीर्तिवीर्य था। बहुत से लोग उसे अर्जुन भी कहते थे। एक दिन वह शिकार खेलने के लिये आश्रम में गया। घूमते घूमते वह जमदग्नि के आश्रम के पास जा पहुँचा। उस समय परशुराम जी अपने चारों भाइयों के साथ वन में फूल फल लेने के लिये गये थे। जमदग्नि जी ने राजा का सत्कार किया और उन्हें दूध इत्यादि पिलाकर उनकी क्षुधा भी शान्त की।

जमदग्नि जी के आश्रम में एक सवत्सा गाय थी। उसी गाय से जमदग्नि के परिवार का भरण-पोषण होता था। कीर्त्तिवीर्य उस गाय को देखकर उस पर विमुग्ध होगया। उसने जमदग्नि से उसे लेने का संकल्प किया। किन्तु वही तो जमदग्नि के

परिवार की संरक्षिका थी। जमदग्नि जी ने अस्वीकार कर दिया। पर राज-शक्ति भी तो संसार में कोई चीज़ है। राजा ने ज़बर्दस्ती गाय छीनकर अपने साथ करली। क्यों न हो राजाओं की प्रकृति ही तो है!

कुछ देर के बाद अपने चारों भाइयों के साथ परशुराम जी जंगल से लौटे। माता-पिता के मुरझाये हुये चेहरों पर उनकी दृष्टि पड़ी! उन्हें यह मालूम हो गया कि कीर्तिवीर्य ज़बरदस्ती मेरे आश्रम की गाय छीन कर ले गया है। बस फिर क्या? उनके हृदय में क्रोध की ज्वालामुखी भड़क उठी। आँखों से आग की चिनगारियाँ सी निकलने लगीं। वे उसी समय कीर्त्तिवीर्य से उस भयानक अत्याचार का बदला चुकाने के लिये चल दिये। राजा भी तो कुछ कम नहीं था। उसने अपनी सेना सहित परशुराम का सामना किया। किन्तु परशुराम के बल-पौरुष के समक्ष कोई भी स्थिर न रह सका। कीर्त्तिवीर्य सेना सहित लड़ाई में मारा गया। उनके सभी लड़के समरक्षेत्र को छोड़ कर इस तरह भगे, कि कहीं उनका पता तक न चला।

परशुराम जी गाय और बछड़े को लेकर अपने आश्रम में आये। जमदग्नि और रेणुका के हर्ष की सीमा नहीं। किन्तु अब जमदग्नि को यह मालूम हुआ कि परशुराम ने कीर्त्तिवीर्य को उसकी सेना सहित मार डाला है, तब वे बहुत दुखी हुये। उन्होंने कहा—बेटा! तुमने यह बड़ा बुरा किया। ब्राह्मणों का सब से

बड़ा धर्म है क्षमा। तुमने राजा को मार कर आज उसी धर्म की अवहेलना की है। इसलिये तपस्या द्वारा अब तुम्हें इस पाप का प्रायश्चित्त करना चाहिये।

पिता की आज्ञाओं के सच्चे पालक परशुराम जी! वे शीघ्र प्रायश्चित्त के लिये घर से निकल पड़े। वे एक वर्ष तक जंगलों और तीर्थों में घूमते रहे। उन्होंने अनेक तीर्थों के स्नान किये, तथा अनेक भाँति के पूजा पाठ किये। इसके बाद फिर अपने आश्रम में लौटे।

इधर यह हुआ, और उधर कीर्तिवीर्य के पुत्रों ने परशुराम की अनुपस्थिति में जमदग्नि के आश्रम पर आक्रमण कर दिया। त्याग और क्षमा की पूतिमूर्ति जमदग्नि! उन्होंने किसी को श्राप तक न दिया। वे एक अग्नि कुण्ड के पास बैठ कर ईश्वर की आराधना कर रहे थे। कीर्तिवीर्य के पुत्रों ने नीति और अनीति का कुछ भी विचार न करके उनका सिर काट डाला। रेणुका रोई, चिल्लाई, किन्तु सब व्यर्थ!! उसके रोने और चिल्लाने का उत्तर कीर्त्तिवीर्य के पुत्रों ने हँसी और मुसकुराहट के साथ दिया।

रेणुका अभी क्रन्दन ही कर रही थी कि परशुराम जी आ पहुँचे। उन्होंने अपने मृत पिता का सिर अपने सामने देखा! उनकी नस नस में आग लग गई। वे जैसे क्रोध की एक साक्षात् प्रतिमा बन गये। उन्होंने पिता की लाश की देख-रेख का

काम भाइयों के सिपुर्द किया, और स्वयं परसा लेकर कीर्त्तिवीर्य के पुत्रों से बदला लेने के लिये निकल पड़े।

क्रोध की साक्षात् प्रतिमा परशुराम जी! वे अपना तीव्र धार वाला परसा लेकर माहिष्मती में पहुँचे। उनके भयंकर क्रोध के सामने कौन स्थिर रह सकता था! उन्होंने हैहय वंश का सर्वनाश करने के लिये कीर्तिवीर्य के लड़कों का सिर काट-काट कर एक ढेर सा लगा दिया। किन्तु इतने ही से उनके मन को संतोष न हुआ। कीर्तिवीर्य के पुत्रों के अत्याचार ने उनके हृदय पर ऐसा गहरा प्रभाव डाला, कि उन्होंने समस्त क्षत्रिय वंश को ही अत्याचारी समझ लिया। और वे सबके प्राण संहारक बन गये। उनकी माता रेणुका ने कीर्तिवीर्य के पुत्रों के अत्याचार से दुखी होकर इक्कीस बार छाती पीट कर विलाप किया था। इसी के परिणाम स्वरूप परशुराम जी ने इक्कीस बार सम्पूर्ण रूप से क्षत्रियों का संहार किया। इसके पश्चात् समस्त पंचक देश में उन्होंने क्षत्रियों के रक्त से नौ कुण्ड भरवाये। तदनन्तर उनकी आत्मा को कुछ सुख हुआ, कुछ शांति मिली।

जब परशुराम जी का क्रोध शांत हुआ, तब वे लौट कर अपने आश्रम में गये। वे अपने पिता का कटा हुआ सिर और धड़ एकत्र कर उन्हें मिलाने के लिये पूजा-आराधना में लगे, पूजा से जमदग्निजी उठे। जमदग्नि जी की गिनती सप्तर्षियों में की जाती है।

पुराणों का कहना है कि परशुराम जी इस समय भी महेन्द्र नामक पर्वत पर निवास करते हैं और आगे भविष्य में कभी

उनके द्वारा वेद का अधिक प्रचार भी होगा। जो हो, पौराणिक पुरुषों में परशुराम जो एक अलौकिक पुरुष थे।

उतङ्क

एक सघन जङ्गल था। उसमें एक बहुत बड़े पुण्य कर्मा महर्षि रहा करते थे। उनका नाम वेद था। वे अनेक राजाओं के आचार्य थे। उनके शिष्य संसार में ज्ञान की दिव्य ज्योति छिटका रहे थे। उन्हीं में से एक का नाम उतंक था। वह अनन्य भक्ति से अपने गुरु की सेवा करता। उन्हीं को वह अपना ईश्वर समझता, और उन्हीं की पूजा-आराधना में सदैव निमग्न रहा करता था।

एक दिन वेद जी अपने आश्रम से कहीं बाहर जाने लगे। उन्होंने उतंक को बुलाकर कहा—उतंक, मैं बाहर जा रहा हूँ। जब तक न आजाऊँ आश्रम की देख-रेख करना, और आवश्यक वस्तुओं को लाकर आश्रम में देना।

गुरु भक्त उतंक आश्रम की देख-रेख करने लगा। वह केवल देख रेख ही नहीं करता, बल्कि अपने गुरु के लगाये हुये हर एक पौदे की पूजा भी करता। उसके उद्योग से आश्रम थोड़े ही दिनों में स्वर्ग सा बन गया। क्यों न हो, वह गुरु भक्त शिष्य था न! किन्तु इतने ही से आश्रम में रहने वाली स्त्रियों को संतोष न हुआ। वे सब उतंक की अनेक प्रकार से परीक्षा

लेने लगीं। किन्तु संसार की कोई भी वस्तु उसके मन को न डिगा सकी। वह परीक्षा में खरा निकला।

कुछ दिनों के पश्चात् वेद जी आश्रम में लौट कर आये, अपने आश्रम का सुप्रबन्ध और सुव्यवस्था देखकर उनका रोम रोम हर्ष से नाच उठा। जब उन्होंने आश्रम में रहनेवाली स्त्रियों से उतंक की परीक्षा की बात सुनी, तब तो उनके हृदय में प्रसन्नता का पारावार न रहा। उन्होंने उतंक को अपने समीप बुलाकर कहा—बेटा उतंक तुमने मेरी बड़ी सेवा की। मैं तुम्हारी सेवाओं से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। तुमको वर देता हूँ तुम्हारी सारी अभिलाषायें पूर्ण हों। अब तुम स्वतंत्रता-पूर्वक अपने घर भी जा सकते हो।

मैं आपसे किस वस्तु की अभिलाषा करूँ गुरुदेव!—उतंक ने उत्तर दिया—मुझे केवल आपकी प्रसन्नता चाहिये। आपकी प्रसन्नता ही मेरे लिये सब कुछ है। किन्तु मैं बिना गुरु-दक्षिणा दिये हुये कैसे घर जा सकता हूँ! क्या मुझे इस तरह जाने से पाप न लगेगा? अतः आप मुझे आदेश दें, मैं किस रूप में आपकी गुरु दक्षिणा चुकाऊँ?

वेद जी ने कुछ देर सोचने के पश्चात् कहा—अभी ठहरो उतंक! कुछ दिनों के बाद मैं तुम्हें सोचकर बताऊँगा। उतंक रुक गया। कुछ दिनों के पश्चात् उसने फिर वही प्रश्न किया। अब तो कुछ न कुछ उत्तर देना ही चाहिये। वेद जी ने गुरु-दक्षिणा के लिये उसकी उत्सुकता को देखकर कहा—मैं गुरु

दक्षिणा में तुमसे कौन सी चीज लूँ उतंक ! मेरे आश्रम में तो किसी भी वस्तु का अभाव नहीं ? तुम इसके लिये अपनी गुरुआनी के पास जाओ। वे शायद तुमसे किसी चीज़ की याचना करें।

गुरुदेव की आज्ञा से उतंक गुरुआनी के पास जा पहुँचा। वहाँ भी उसने अपनी गुरु दक्षिणा की बात कही। गुरुआनी मानो उसकी प्रतीक्षा कर रही थीं। उन्होंने कहा—बेटा उतंक ! पौष्य राजा का नाम तो तुमने सुना होगा ! उसकी राज-महिषी के कानों में दो कुण्डल हैं ! तुम उन्हीं दोनों कुण्डलों को मुझे ला दो। मैं आज के चौथे दिन उन्हीं कुण्डलों को पहन कर अपने व्रत का उद्यापन करूँगी और ब्राह्मणों को भोजन कराऊँगी ! यदि तुम उन दोनों कुण्डलों को न ला सके, तो फिर कभी कल्याण के भागी न बन सकोगे।

गुरु भक्त उतंक ने गुरुआनी जी का आदेश अपने सर माथों पर चढ़ाया। वह कुण्डलों के लिये घर से निकल पड़ा। इधर वह कुंडल लेने जा रहा था, और उधर इन्द्र के मन में तरह-तरह के विचार उठने लगे। वे सोचने लगे उतंक पौष्य की राज-महिषी के कुण्डल लेने के लिये जा रहा है। मगर वे कुंडल तो नागराज तक्षक को अत्यन्त प्रिय हैं ! फिर उतंक उन्हें कैसे ला सकेगा ? उसे न जाने कितनी मुसीबतों का सामना करना पड़ेगा। इधर वेद जी मेरे मित्र ठहरे और उतंक है उनका प्रिय पात्र शिष्य, इसलिये इस संबंध में हमें उसकी कुछ सहायता करनी ही चाहिए।

बस फिर क्या ? इन्द्र ने फौरन मनुष्य का रूप धारण किया। इतना ही नहीं, उन्हों ने अपने ऐरावत हाथी को बैल बनाया। वे उसी बैल पर चढ़ कर उतंक के आगे आगे चल पड़े। बैल ने मार्ग में गोबर किया। मनुष्य रूप धारी इन्द्र ने उतंक को पुकार कर कहा—उतंक ! तू इस गोबर को खाले ! तेरा अत्यन्त कल्याण होगा।

उतंक गोबर खाले ! उसे अत्यन्त आश्चर्य हुआ। उसने उस मनुष्य की ओर आश्चर्य की दृष्टि से देखकर उत्तर दिया—क्या यह भी खाने की चीज़ है ! मैं तो इसे न खाऊँगा।

उतंक !—उस आदमी ने कहा—आग्रह न कर, तू इसे खाले। तेरे गुरु देव ने भी कभी इसे खाया था। जाकर अपने गुरुदेव से पूछ लेना।

उतंक चाहे गोबर न खाता, किन्तु गुरुदेव के गोबर खाने की बात सुन कर अब उससे न रहा गया। उसने बैल का गोबर उठा कर खा लिया। वह जल्दी में अपना हाथ-मुँह धोना भी भूल गया। वह उसी तरह महाराज पौष्य के पास पहुँचा। पौष्य ने उसका आदर सत्कार किया। उसकी अभ्यर्थना की। राजा साधु-सेवी थे। जब उतंक ने राजा से अपने आने का कारण बतलाया; तब उन्होंने उसे महल के भीतर राज-महिषी के पास भेज दिया। राज-महिषी ठहरी सती साध्वी ! उतंक को वह मकान में कहीं दिखाई हो न पड़ी। उतंक निराश होकर राजा के पास लौट आया। उसने राजा से कहा—राजन् ! राजमहिषी का तो

महल में कहीं पता ही नहीं चलता ? कहीं आप मुझे धोखा तो नहीं दे रहे हैं ?

धोखा मैं आपको दूँगा महाराज ! राजा ने उत्तर दिया—आप ही सोचें राजमहल में राज-महिषी आपको क्यों नहीं दिखाई दे रही हैं ? आपके हाथ मुँह जूठे हैं । जब तक आप इन्हें अच्छी तरह साफ़ न कर लेंगे तब तक आप को राज-महिषी न दिखाई देंगी !

अब उतंक को अपनी भूल मालूम हुई । वह हाथ मुँह धोकर फिर राजमहल में राज-महिषी के पास जा पहुँचा । सचमुच अब उसे राज-महिषी के दर्शन हुये । राज-महिषी उनके चरणों पर गिर पड़ी । उसने हाथ जोड़कर कहा—भगवन् ! कहिये क्या आज्ञा है ?

उतंक ने उत्तर दिया—रानी ! मैं गुरु-दक्षिणा के लिये आपसे आपके कानों के कुण्डलों की भीख मांगने आया हूँ । क्या आप मुझे अपने कानों के कुण्डल दे सकेंगी ?

दयालु रानी ! उतंक की गुरु-भक्ति देखकर उसका हृदय श्रद्धा और सहानुभूति से भर गया । उसने उतंक की ओर आदर की दृष्टि से देखकर कहा—क्यों नहीं भगवन् ! आप मेरे कुण्डलों को सहर्ष अपने साथ ले जायँ ! किन्तु मेरे ये दोनों कुण्डल नागराज तक्षक को अत्यन्त प्रिय हैं ! कहीं वे आपको धोखा देकर इन्हें आप से छीन न लें ! इसलिये आप इन्हें बड़ी सावधानी से ले जाइयेगा !

रानी ने अपने दोनों कुण्डल उतंक को दे दिये। उतंक वहाँ से विदा होकर पौष्य के पास पहुँचा। पौष्य ने फिर उसका आदर संमान किया तथा उसे भोजन इत्यादि भी कराया। उतंक वहाँ से तृप्त होकर कुण्डलों को लेकर चला।

अब तक्षक का हाल सुनिए—उससे यह बात न छिपी रही। उसे किसी न किसी तरह यह मालूम हो गया कि उतंक कुण्डलों को लिये जा रहे हैं। बस फिर क्या; वह उन्हें लेने के लिये कमर कस कर तैयार होगया। वह एक नग्न क्षपणक का रूप बनाकर उतंक के मार्ग पर चलने लगा। कभी वह लुप्त होता और कभी प्रकट। उतंक की दृष्टि क्षपणक पर पड़ी किन्तु उसने उस पर ध्यान न दिया। वह एक तालाब के किनारे उन दोनों कुण्डलों को रखकर स्नान इत्यादि करने लगा। क्षपणक धीरे धीरे पहुँचा और कुण्डलों को लेकर चलता बना।

उतंक ज़ल्दी जल्दी स्नान ध्यान समाप्त कर किनारे पर आया उसने देखा तो कुण्डल ही नहीं। वह इधर उधर देखने लगा। उसकी दृष्टि क्षपणक पर पड़ी। उसने उसका पीछा किया। किन्तु क्षपणक भी जोरों से भाग चला। कुछ दूर जाने पर उतंक ने क्षपणक को पकड़ लिया। किन्तु अब उसने क्षपणक का रूप त्याग कर अपना असली रूप धारण किया। अब उतंक को अपनी भूल मालूम हुई। वह एक स्थान पर खड़ा होकर कुछ सोचने लगा। तक्षक को अवसर मिला। वह दौड़कर एक बिल में घुस गया और नाग लोक में अपने घर चला गया।

उतंक ने तक्षक का पीछा किया। वह उस बिल के पास जाकर बिल को लकड़ी से खोदने लगा। किन्तु लकड़ी से बिल कैसे खोदी जा सकती थी? इन्द्र को फिर उसकी-गुरु भक्ति पर दया आ गई। उन्होंने अपना वज्र उतंक की लकड़ी की नोक में लगा दिया। बस फिर क्या? उतंक उस बिल को खोदता हुआ नाग लोक में जा पहुँचा। वहाँ बड़े बड़े महल थे, बड़ी बड़ी अट्टालिकायें थीं। वहाँ के वैभवों और क्रीड़ा स्थलों को देख कर उतंक आश्चर्य में पड़ गया। वह एक स्थान पर खड़ा होकर नागों की स्तुति करने लगा। किन्तु उसकी स्तुति से न कोई नाग प्रसन्न हुआ, और न कोई उसके सामने ही प्रगट हुआ।

अब उतंक चिन्ता में पड़ गया। सोचने लगा, क्या करें? कैसे कुण्डलों को प्राप्त करें? इसी समय उसकी दृष्टि एक दूसरी ओर गई। उसने देखा, वस्त्रों और गहनों से सजी हुई दो स्त्रियाँ काले और सफेद सूतों से कपड़ा बुन रही हैं। उनके पास ही बारह चक्रों की एक पहिया है, जिसे छः लड़के घुमा रहे हैं। पास ही एक पुरुष बैठा हुआ है उसके पास एक सुन्दर घोड़ा भी बँधा हुआ है। पुरुष के शरीर से ज्योति की रश्मियाँ सी फूट रही हैं। उतंक उस दिव्य पुरुष की ओर आकर्षित हुआ और उसकी स्तुति करने लगा।

उसकी विनय भरी स्तुति! वह दिव्य पुरुष प्रसन्न हो उठा। उसने उतंक की ओर देख कर कहा—मैं तुम्हारी स्तुति से तुम पर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। बोलो, तुम क्या चाहते हो?

उतंक तो यह चाहता ही था। उसने हाथ जोड़ कर उत्तर दिया, महाराज! मुझे कोई ऐसी युक्ति बताइये जिससे सभी नाग मेरे वश में हो जायँ।

उस दिव्य पुरुष की प्रसन्नता! उसने कहा—अच्छा, इस घोड़े के अपान-स्थल में जोर से फूँक मारो।

उतंक ने वैसा ही किया। अरे यह क्या? घोड़े के अंग प्रत्यंग से आग की चिनगारियाँ निकलने लगीं। सारा नाग-लोक अग्निमय हो गया। सभी नाग व्याकुल होकर इधर-उधर भागने लगे। तक्षक भयभीत हो उठा। वह उन दोनों कुण्डलों को लेकर उतंक के पास पहुँचा। उसने दोनों कुण्डल उतंक को दे दिये। यही नहीं, उसने उसकी प्रसन्नता के लिये उतंक की अभ्यर्थना भी की। किसी ने सच कहा है, कि बिना भय के संसार में कोई काम ठीक तरह से नहीं होता।

अब उतंक के सिर पर दूसरी चिंता सवार हुई। वह सोचने लगा, मुझे नाग लोक से गुरु के आश्रम में पहुँचने में तो बड़ी देर लग जायगी। गुरुआनी चौथे ही दिन अपने व्रत का उद्यापन करने वाली हैं। फिर मैं कैसे पहुँच सकूँगा। वह संकट में पड़ गया। उसने इसके लिये फिर उस दिव्य पुरुष की उपासना की। वह फिर प्रसन्न हुआ। उसने कहा, तुम इस घोड़े की पीठ पर सवार हो जाओ। यह घोड़ा बहुत शीघ्र तुम्हें आश्रम में पहुँचा देगा।

चौथा दिन बीत रहा था। गुरुआनी उतंक की प्रतीक्षा कर रही थीं। वे मन ही मन सोच रही थीं, उतंक अब तक न आया। फिर

मैं उसे श्राप क्यों न दे दू ! इसी समय उतंक गुरुआनी के पास जा पहुँचा। उसने उन्हें दोनों कुण्डल दे दिये। वे प्रसन्नता से खिल उठीं ! उन्होंने उसे आशीर्वाद देते हुये कहा, जाओ, तुम्हारा चिर कल्याण हो।

उतंक वहाँ से गुरु के पास पहुँचा। उसने गुरुसे अपना सारा हाल बता कर कहा-गुरुदेव ! मुझे नागलोक में दो स्त्रियाँ दिखाई पड़ी थी। वे सफेद और काले सूतों से कपड़ा बुन रही थीं। वहीं बारह चक्रों का एक सुन्दर पहिया था; उसे छै लड़के घुमा रहे थे। उसके पास एक दिव्य पुरुष बैठा हुआ था। वहीं एक घोड़ा भी बँधा था। मैं इन सब चीजों को देख कर अत्यन्त आश्चर्य में पड़ गया हूँ। आप मुझे इसका परिचय दें। मैं जब पौष्य के राज महल की ओर जा रहा था, तब मार्ग में मुझे एक आदमी मिला था। वह बैल के ऊपर चढ़ा था। उसने मुझे बैल का गोबर खिलाया। उसे भी मैं पहचान न सका गुरुवर !

उतंक की उत्सुकता देख वेद जी ने उस पर अत्यन्त प्रसन्न हो कर उत्तर दिया—बेटा ! नागलोक में तुम्हें जो दो स्त्रियाँ दिखाई पड़ी थीं, वे धाता और विधाता थीं। जिस पहिये का तुम जिक्र कर रहे हो, वह सम्वत सर था। छै बालक जो उसे घुमा रहे थे, वे ऋतुयें थीं। काले और सफेद सूत दिन और रात थे। वह दिव्य पुरुष साक्षात् इन्द्र थे। घोड़ा स्वयं अग्निदेव थे। वह मनुष्य जिसने तुम्हें गोबर खिलाया, इन्द्र थे। उन्होंने तुम्हें गोबर नहीं, बल्कि गोबर के रूप में अमृत खिलाया। तुम उसी अमृत के प्रभाव से

नागलोग में जा सके। इन्द्र मेरे मित्र हैं। इसीलिये उन्होंने तुम्हारी यह सहायता की। अब तुम अपने घर जाओ। मैं तुम्हारी गुरु भक्ति से तुम पर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। ईश्वर तुम्हारा कल्याण करेंगे।

गुरु का आशीर्वाद प्राप्त कर उतंक अपने घर चला आया। तक्षक से उसने दोनों कुण्डल ले तो लिये, किन्तु उसके हृदय में उसके प्रति एक तरह का असंतोष बना रहा। वह बराबर उससे बदला लेने के लिये अपने हृदय में नई चिन्ता करता रहा। एक दिन वह अवसर पाकर हस्तिनापुर के राजा जनमेजय के पास गया। उसने उसे तक्षक के विरुद्ध यह कह कर भड़काया कि इसी ने तुम्हारे पिता का सर्वनाश किया था। बस फिर क्या? जनमेजय के क्रोध की आग भड़क उठी। उसने सर्पयज्ञ की बहुत बड़ी तैयारी शुरु कर दी। सर्पयज्ञ आरम्भ हुआ। मंत्रों के प्रभाव से सर्प खिंच कर यज्ञ के अग्नि कुण्ड में आने लगे। असंख्य सर्पों का सर्वनाश हो गया किन्तु तक्षक अब भी बचा रहा। वह भाग कर इन्द्र के सिंहासन के नीचे आ गिरा!

जनमेजय चिन्ता में पड़ गया। वह सोचने लगा, जिस तक्षक के लिये यह यज्ञ किया गया वह तो अभी तक जीता ही है। ऋषियों ने ध्यान लगा कर देखा तो उसे इन्द्र के सिंहासन के नीचे छिपा हुआ पाया। बस फिर क्या? मंत्रों के प्रभाव से इन्द्र का सिंहासन भी खींच लाया गया। किन्तु इन्द्र ने बीच में पड़कर तक्षक को बचा दिया।

यह है उत्तंक की गुरु-भक्ति ! क्या ऐसी पवित्र गुरु-भक्ति का दर्शन फिर कभी संसार में हो सकेगा ?

अगस्त्य

भारतीय ऋषियों में महर्षि अगस्त्य का एक विशेष स्थान है। इनकी गिनती सप्तर्षियों में की जाती है। इन्होंने अपनी साधना और अपनी तपस्या-शक्ति से भारत के कोने-कोने में अपना एक अमर पद सा स्थापित कर लिया है। लोग इनके नाम को बड़ी श्रद्धा से स्मरण करते हैं। यही नहीं, बहुत से लोग सम्मान-पूर्वक इनकी पूजा भी किया करते हैं।

अगस्त्य जी का जन्म वैवस्वत मन्वन्तर में मित्रावरुण ऋषि के घर हुआ था। इनके जन्म के संबंध में पुराणों में एक बड़ी विचित्र कथा कही गई है। वह कथा बड़ी ही मनोरंजक और बड़ी ही चित्ताकर्षक है।

मित्रावरुण जी एक समुद्र के किनारे रहा करते थे। वहीं उनका आश्रम भी बना हुआ था। समुद्र की लहरें जब बढ़तीं तब किसी दिन मित्रावरुण की लँगोटी, किसी दिन उनका कमण्डल, और किसी दिन उनकी खाने-पीने की कोई चीज़ बह कर समुद्र के पेट में चली जाती। इससे मित्रावरुण जी को बड़ा कष्ट होता। उनके काम में अत्यन्त बाधा भी पड़ती थी। मित्रावरुण जी का जीवन समुद्र के इस उत्पात से ऊब उठा। इन्होंने समुद्र

से अनेक प्रकार की अनुनय-विनय की किन्तु कुछ फल न हुआ। समुद्र बराबर अपने उत्पातों में लगा रहा।

अब मित्रावरुण जी से न रहा गया। समुद्र के इस उत्पात से उनके शरीर में आग लग गई। वे समुद्र को इस अत्याचार का मज़ा चखाने के लिये मन ही मन उपाय सोचने लगे। उन्होंने सोचा, किसी तरह ऐसा प्रतापी और मेधावी पुत्र उत्पन्न करना चाहिये, जो समुद्र को उसके इस अत्याचार का भली भाँति मज़ा चखा सके! बस फिर क्या? वे प्रतापशाली पुत्र के लिये तपस्या में संलग्न हो गये।

तपस्या पूरी हुई। मित्रावरुण जी ने अपना तेज एक घड़े में भर कर उसे एकान्त स्थान में रख दिया। यह घड़ा उन्होंने स्वयं किसी विशेष रीति से तैयार किया था। कुछ दिनों के पश्चात् घड़ा अपने आप फूटा और उसके अन्दर से एक बच्चा निकला। बच्चे के गले में यज्ञोपवीत और कमर में एक सूत्र भी था। आकृति पर ऐसा तेज और ऐसा प्रताप था कि उसे देखकर लोग विस्मित से हो गये। मित्रावरुण जी उस बच्चे को देखकर बहुत प्रसन्न हुये। उन्होंने उसका नाम अगस्त्य रक्खा। अगस्त्य जी का जन्म घड़े से हुआ था। इसलिये बहुत से लोग अगस्त्य जी को कुंभज भी कहा करते हैं।

अगस्त्य जी कुछ बड़े हुये। वे पिता की आज्ञा से काशी में विद्या पढ़ने के लिये गये। उनकी अपूर्व प्रतिभा उनका तेज और ज्ञान! उन्होंने, थोड़े ही दिनों में पढ़ लिखकर पूर्णता प्राप्त कर

थी। साथ ही अगस्त्य जी के हृदय में वैराग्य की धारा भी प्रवाहित हो उठी। ये घर से निकलकर वन जाकर तपस्या में ही अपने जीवन को बिता देना चाहते थे। किन्तु मित्रावरुण जी की कुछ दूसरी ही अभिलाषा थी। वे अगस्त्य जी को गृहस्थ बनाकर उनसे अपने वंश की रक्षा कराना चाहते थे। अंत में पिता की इच्छा-पूर्त्ति ही को उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य बनाया। वे गृहस्थ बनने के लिये तैयार हो गये।

अगस्त्य जी अपने विवाह के लिये एक योग्य कन्या की स्वयं खोज करने लगे। वे इसके लिये स्वयं घर से निकल पड़े। उन्होंने चारों ओर खोज की किन्तु कहीं उनके मन के अनुकूल कोई कन्या न मिली। वे कुछ निराश से हुये। इसीसमय उन्हें यह मालूम हुआ कि विदर्भ देश का राजा पुत्र के लिये तपस्या कर रहा है। बस फिर क्या! अगस्त्य जी ने अपनी साधना-शक्ति से कुछ ऐसा चक्र चलाया कि विदर्भ के राजा की रानी के गर्भ में पुत्र के बजाय कन्या अवतीर्ण हुई। वह कन्या ठीक उसी भाँति की थी जैसी अगस्त्य जी किसी कन्या की अपने लिये तसवीर खींचा करते थे।

कुछ दिनों के पश्चात् रानी के गर्भ से लड़की उत्पन्न हुई। राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। क्योंकि उसने तपस्या पुत्र के लिये की थी। जाने कहाँ पुत्र का लोप हो गया। इसीलिये राजा ने अपनी उस लड़की का नाम लोपामुद्रा रक्खा। लोपामुद्रा सयानी हुई। राजा ने उसके विवाह के लिये स्वयम्बर रचा।

अगस्त्य जी भी स्वयम्बर में गये। उन्होंने स्पष्ट रूप से राजा से लोपामुद्रा को अपने लिये माँगा। राजा ने कुछ उत्तर न दिया। उसने इस संबंध में लोपामुद्रा से बातचीत की। लोपामुद्रा अगस्त्य जी के साथ विवाह करने के लिये तैयार हो गई। बस फिर क्या? लोपामुद्रा का अगस्त्य जी के साथ विवाह होगया। अगस्त्य जी उसे लेकर काशी चले गये। लोपामुद्रा बड़ी पतिव्रता थी। उसने ऋग्वेद के कई सूक्तों का निर्माण भी किया है।

अगस्त्य जी बड़े ज्ञानी थे। वे युद्ध विद्या में भी बड़े निपुण थे। जब ये किसी राजा को अनीति के मार्ग पर चलते हुये देखते तब इनका हृदय दुख से भर जाता। ये उसे पहले समझाते। यदि वह न मानता तो ये उसके साथ युद्ध किया करते थे। ये व्यूह-रचना भी बड़े कौशल के साथ करते थे। कौरवों और पाण्डवों के गुरु द्रोणाचार्य इन्हीं के शिष्य थे। राजा द्रुपद ने भी इन्हीं से युद्ध विद्या की दीक्षा ली थी। जब अगस्त्य जी का विवाह होगया तब वे चारों ओर घूमने लगे। ये लोगों को धर्म का उपदेश देने और लोगों को कष्टों से बचाने का प्रयत्न भी किया करते थे। इनका यह काम इतना सर्वव्यापी हुआ कि लोग इन्हें बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगे। राजा क्या प्रजा, ऋषि क्या तपस्वी, सभी अगस्त्य जी का हृदय से आदर करते थे। क्यों न हो? उनके हृदय में अपूर्व गुणों की विभूतियाँ निवास करती थीं न!

अगस्त्य जी के जीवन में दो बड़ी अनोखी बातें पाई जाती हैं। एक तो समुद्र का पीना और दूसरा विन्ध्याचल पर्वत को बढ़ने से रोक देना। पुराणों में विन्ध्याचल पर्वत के संबंध में इस तरह की एक मनोरंजक कथा कही गई है:—

एकबार विन्ध्याचल पर्वत के मन में कुछ अभिमान जागृत हुआ। उसने सोचा, मैं अधिक ऊँचा होकर सूर्य का मार्ग क्यों न रोक लूँ! बस अपने इसी विचार से विन्ध्याचल पर्वत बढ़ने लगा। उसके इस काम को देखकर चारों ओर एक हलचल सी मच गई। देवता, ऋषि, मुनि, मनुष्य सभी व्याकुल हो गये। देवता दौड़कर अगस्त्य जी के पास गये। अगस्त्य जी के पास इसलिये गये, कि विन्ध्याचल उनका शिष्य था।

अगस्त्यजी उन दिनों काशी में थे। देवताओं की प्रार्थना से वे वहाँ से चल पड़े। रास्ते में विन्ध्याचल पर्वत मिला। उसने जब अपने गुरु को आते हुये देखा, तब शिर झुका कर उन्हें प्रणाम किया। अगस्त्यजी ने उसे आशीर्वाद देकर कहा कि, जब तक मैं लौट कर फिर यहाँ न आऊँ, तब तक तुम इसी तरह यहाँ पड़े रहो। गुरु का आदेश! विन्ध्याचल को विवश होकर झुककर पड़ा रहना पड़ा। अगस्त्यजी वहाँ से दक्षिण की ओर चले गये और फिर लौटकर न आये। विन्ध्याचल उसी रूप में ज्यों का त्यों पड़ा हुआ है। अगस्त्यजी काशी से सोमवार को चले थे और फिर काशी लौटकर न गये। इसीलिये काशी में

आज भी यह बात प्रसिद्ध है, कि जो सोमवार के दिन काशी से यात्रा करता है, वह फिर काशी लौटकर नहीं आता है।

अगस्त्य जी के सम्बन्ध में एक और भी बड़ी विचित्र कथा कही जाती है। अगस्त्य जी के समय में दो तीन बड़े विकट राक्षस उत्पन्न हुये। उनका नाम आतायी, वातायी और इल्ल था। तीनों बड़े मायावी, और बड़े कुचकी थे। फल, फूल, चाहे जिस चीज़ का चाहते रूप रख लेते। उनमें से एक फल का रूप धारण करता और दूसरा उसे लेकर किसी ऋषि के पास जाता। ऋषि को क्या पता, कि यह फल के रूप में राक्षस है। वह उस फल को खा लेता। खा लेने पर बाहर वाला राक्षस उसका नाम लेकर पुकारता। बस, वह फौरन उस ऋषि का पेट फाड़ कर बाहर निकल आता। इसी तरह इन तीनों राक्षसों ने न जाने कितने ऋषियों का सर्वनाश कर डाला, चारों ओर दुःख और आतंक की एक गहरी घटा सी छा गई।

अगस्त्य जी के कानों में भी इन राक्षसों का समाचार पड़ा। वे बड़े दुखी हुये। वे स्वयं उन राक्षसों के पास गये। राक्षसों ने उनके साथ भी वही अभिनय किया। किन्तु समुद्र को घेर लेने वाले अगस्त्य जी का कौन विध्वंस कर सकता था ? उन्होंने तीनों राक्षसों को बारी बारी से उसके रूप में खाकर उन्हें पचा डाला।

रामचन्द्रजी को जब बनवास हुआ था, तब वे वन में अगस्त्य जी के आश्रम में गये थे। उस समय अगस्त्य जी दण्ड-

राण्य में रहते थे। लोगों का कहना है, कि यहाँ दण्डक नामक एक राजा राज्य करता था। वह बड़ा क्रूर और बड़ा स्वेच्छाचारी था। नीति और अनीति का कुछ भी ख्याल न करता। भृगु जी को राजा की यह स्वेच्छाचारिता अच्छी न लगी। वे उस पर इतने क्रुद्ध हुये कि उन्होंने राजा का तो नाश ही कर दिया, उसके देश और देशवासियों को भी अपने क्रोध की विकराल ज्वाला में भस्म कर डाला। उसी समय से उसका नाम दण्डकारण्य पड़ा।

अगस्त्य जी जब विन्ध्याचल पर्वत को रोककर दक्षिण की ओर बढ़े, तब वे इधर-उधर पर्यटन करते हुये इसी स्थान पर पहुँचे। उन्होंने इस स्थान को अपने आश्रम के लिये अधिक पसन्द किया। किन्तु वहाँ आवश्यक वस्तुओं का पूर्ण रूप से अभाव था। अगस्त्य जी इसके लिये स्वर्ग गये, और वहाँ से अमृत लाकर उन्होंने उस मृतप्राय भूमि को फिर से जीवित किया। इसके बाद तो वहाँ अनेक ऋषियों और मुनियों ने अपने आश्रम बनाये। रामचन्द्र जी सीता जी के साथ वहाँ कई दिनों तक रहे। अगस्त्य जी ने उपदेश भी दिये।

अगस्त्य जी की गिनती सप्तर्षियों में की जाती है। यही नहीं, सप्तर्षियों में उनका एक विशेष स्थान है। एक बार राजा नहुष को किसी तरह इन्द्र का पद प्राप्त हो गया। पद और सत्ता गर्व ही तो है! नहुष इन्द्र पद प्राप्त करते ही स्वेच्छाचारी बन गया। वह अपने को संसार में सर्वश्रेष्ठ समझता। चाहे कोई हो, पर वह अपने सामने किसी को कुछ न समझता।

अपने इसी अभिमान में एक दिन उसने इन्द्राणी को अपने पास बुलाया। इन्द्राणी भय से काँप उठीं। उन्होंने बृहस्पति जी को बुलाकर उन्हें अपने दुःख की कहानी सुनाई। नहुष की स्वेच्छाचारिता बृहस्पति से कुछ छिपी तो थी नहीं! उन्होंने कहा— मैं नहुष के अत्याचार पूर्ण कामों को भलीभाँति जानती हूँ। आप उससे कहलवा दें कि मैं न आऊँगी, तुम्हीं सप्तर्षियों से पालकी उठवा कर मेरे पास आओ। नहुष स्वेच्छाचारी तो था ही! उसे भले-बुरे का कुछ भी ज्ञान न था। उसने फौरन सप्तर्षियों को अपने पास बुलाया, और उनसे पालकी उठवाकर वह इन्द्राणी के पास चल पड़ा।

सप्तर्षि पालकी ढोना क्या जानें? उन्हें पालकी कन्धे पर रखकर चलने का अभ्यास भी नहीं था। वे थोड़ी ही देर में बिलकुल थक गये। उनके पैर आगे बढ़ने से जवाब देने लगे। उधर ज्यों ज्यों देर हो रही थी; नहुष अपने मन में बिगड़ता और ऋषियों के ऊपर अपना क्रोध प्रकट करता। वह उन्हें जल्दी चलने के लिये संस्कृत में 'सर्प सर्प' कहता था। ऋषियों को नहुष के इस अत्याचार से क्रोध तो आया, किन्तु वे कुछ बोल न सके। उन्हीं में अगस्त्य जी भी थे। अगस्त्य जी से नहुष का यह अत्याचार न देखा गया। उन्होंने नहुष को शाप दे दिया, कि जाओ, तुम सचमुच साँप हो जाओ।

महर्षि अगस्त्य का शाप! वह कैसे सत्य से खाली जाता? नहुष उसी समय साँप बन गया। महर्षि अगस्त्य का सारा जीवन

ही इसी प्रकार की घटनाओं से भरा हुआ है। इसमें सन्देह नहीं, कि वे एक अलौकिक पुरुप थे। इसी लिये तो मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी ने भी अगस्त्य जी की अभ्यर्थना की थी।

विश्वामित्र

पौराणिक महापुरुषों में विश्वामित्र जी एक अलौकिक पुरुप थे। इनकी साधना-शक्ति इतनी प्रवल थी, कि ये उसके द्वारा वड़े-वड़े अनूठे काम कर डालते थे।

विश्वामित्र जी एक क्षत्रिय राजा थे। इनका जन्म राजा गाधि के घर में हुआ था। इन्हें शिकार से वड़ा प्रेम था। एक दिन ये शिकार खेलने के लिये जंगल में गये। शिकार खेलते-खेलते ये महर्षि वशिष्ठ जी के आश्रम में जा पहुँचे। त्याग और करुणा की प्रतिमूर्ति वशिष्ठ जी ने राजा की वड़ी आवभगत की।

वशिष्ठ जी के आश्रम में एक गाय थी। उसका नाम नन्दिनी था। वह मनोवांछित फलों को प्रदान करने वाली थी। उसके प्रभाव से वशिष्ठ जी के आश्रम में किसी वात की कमी न रहती। चाहे जिस चीज़ की इच्छा कीजिये; सभी पवित्र वस्तुयें वहाँ पहले ही से एकत्र की हुई दिखाई देती थीं। विश्वामित्र को यह देख वड़ा

आश्चर्य हुआ। उन्होंने अपने मन में सोचा, यह गाय तो बड़ी अद्भुत है। यदि यह मुझे मिल जाय तो बहुत अच्छा हो।

विश्वामित्र के मन में लोभ समा गया। उन्होंने वशिष्ठ जी से कहा—महाराज! आप अपनी यह गाय मुझे दे दें। मैं इसके बदले में आपको सैकड़ों गायें दूँगा।

वशिष्ठ जी की प्यारी नन्दिनी! उसी के दूध से तो उनकी यज्ञादिक क्रियायें पूरी होती थीं। उन्होंने कहा—ऐसा नहीं हो सकता। यह गाय मैं आपको न दूँगा। इसके बिना तो मेरा जीवन ही निरर्थक हो जायगा।

किन्तु राजसत्ता! विश्वामित्र ने उसी की शक्ति के सहारे अपने अनुचरों को हुक्म देकर गाय ज़बरदस्ती छिनवाली। किन्तु इससे क्या? वशिष्ठ जी के पास भी तो एक बहुत बड़ी शक्ति थी; और थी ऐसी शक्ति, जिसका सामना संसार की कोई भी शक्ति नहीं कर सकती। वशिष्ठ जी ने अपनी उसी विजयिनी शक्ति का आश्रय लिया। बस फिर क्या? उसके समक्ष विश्वामित्रजी की एक न चली। वे हार गये।

किन्तु इस हार से विश्वामित्र जी के मन में एक बहुत बड़ा दुख पैदा हुआ। उनके पास शक्ति थी, सेना थी! वैभव था, राज्य था! किन्तु फिर भी वशिष्ठ जी ने उन्हें हरा दिया। अब विश्वामित्रजी को ये सब सांसारिक वस्तुयें अत्यन्त तुच्छ मालूम होने लगीं। वे सोचने लगे, ब्रह्म-शक्ति के सामने इन वस्तुओं

का कोई मूल्य नहीं ! इसलिये अब राजसत्ता को त्याग कर ब्रह्म-शक्ति प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिये।

विश्वामित्र जी अब महर्षि बनने के लिये अनेक प्रकार की कोशिश करने लगे। उन्होंने इसके लिये अपना राजपाट सब कुछ छोड़ दिया। क्यों न हो हृदय का झुकाव ही तो है ! अपने इसी झुकाव के कारण विश्वामित्र जी ब्रह्मर्षि पद के लिये तपस्या में संलग्न हो गये। वे बहुत दिनों तक तपस्या में संलग्न रहे। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर देवताओं ने उन्हें ब्रह्मर्षि का पद दे दिया। विश्वामित्र जी की प्रसन्नता की सीमा नहीं ! किन्तु देवताओं ने कहा—विश्वामित्र जी ! केवल हम लोगों के ब्रह्मर्षि बना देने ही से आप ब्रह्मर्षि न हो जायँगे। इसके लिये आवश्यक तो यह है, कि सारा ब्रह्मर्षि मण्डल आपको ब्रह्मर्षि मान ले।

उस समय ब्रह्मर्षि मण्डल के मुखिया वशिष्ठ जी थे। विश्वामित्र जी ने सोचा, अब तो मैं ब्रह्मर्षि बन गया, अब क्या ? उनके हृदय में वशिष्ठ के प्रति एक ईर्षा सी जाग उठी। कहना तो यह चाहिये, कि वे पहले ही से वशिष्ठ जी से जला करते थे। देवताओं के कथना-नुसार विश्वामित्र जी वशिष्ठ जी के पास गये। उनका हृदय अभिमान से भरा हुआ था। वशिष्ठ जी से यह बात छिपी न रही। फिर वे ब्रह्मर्षि कैसे हो सकते थे। ब्रह्मर्षियों के हृदय में तो क्रोध का नाम तक नहीं होता। अतः जब विश्वामित्र जी वशिष्ठ जी के पास पहुँचे, तब वशिष्ठ जी ने उन्हें 'राजर्षि' ही कह कर संबोधित किया।

विश्वामित्र जी भला इस अपमान को कैसे बरदाश्त कर सकते थे ? उन्होंने सोचा, वशिष्ठ जी ने जान-बूझ कर मेरा अपमान किया है। मैं ब्रह्मर्षि बन गया हूँ, किन्तु इन्होंने ईर्षा वश मुझे राजर्षि नाम से संबोधित किया है। बस फिर क्या; विश्वामित्र जी के हृदय में विद्वेष की एक भयानक आग भड़क उठी। वे वशिष्ठ जी से बदला चुकाने के लिये अवसर की खोज करने लगे।

संयोगवश उन्हें एक अवसर मिल गया। उन दिनों अयोध्या में एक राजा राज्य करता था। उसका नाम त्रिशंकु था। वह बड़ा धर्मात्मा था। एक बार उसके मन में यह इच्छा पैदा हुई, कि मैं सदेह स्वर्ग जाऊँ। वह इसके लिये वशिष्ठ जी के पास गया। उसने वशिष्ठ जी से कहा, महाराज आप मुझे कोई ऐसा यत्न बताइए, जिसके सहारे मैं सदेह स्वर्ग को जा सकूँ।' वशिष्ठ जी ने कोरा जवाब दे दिया। उन्होंने कहा—भाई! मुझे कोई ऐसा यत्न नहीं मालूम है, जो तुझे सदेह स्वर्ग पहुँचा सके।

त्रिशंकु की स्वर्ग जाने की तीव्र इच्छा थी, वह निराश न हुआ। वह वहाँ से वशिष्ठ जी के शिष्यों के पास गया। वशिष्ठ जी के शिष्यों ने भी उसे साफ जवाब दे दिया। इतना ही नहीं, उन सबों ने त्रिशंकु के ऊपर क्रोध भी प्रकट किया। क्रोध प्रगट करने की बात ही थी! भला जिस काम के करने में गुरु ने अपनी असमर्थता प्रकट की, उसे उनके चेले कैसे कर सकते थे ?

राजा त्रिशंकु अपने मनमें बड़ा दुखी हुआ। वह निराश होकर अपने घर लौट गया।

विश्वामित्र जी अवसर की प्रतीक्षा में तो थे ही! उन्हें जब इस घटना का समाचार मिला, तब वे बहुत प्रसन्न हुये। वे त्रिशंकु के पास गये। उन्होंने त्रिशंकु से कहा, मैं तुमसे ऐसा याग करा सकता हूँ, जिसके सहारे तू सदेह स्वर्ग जा सकता है। त्रिशंकु तो यह चाहता ही था। उधर उसे भी वशिष्ठ जी का मान मर्दन करना था। दोनों एक रास्ते के पथिक थे। वह विश्वामित्र जी की बात मान कर यज्ञ करने के लिये तैयार होगया।

त्रिशंकु का यज्ञ प्रारंभ होगया। विश्वामित्र जी आचार्य बनाये गये। देवताओं का आह्वान किया गया, किन्तु एक भी देवता यज्ञ में न आया। देवताओं ने कहा, जिस यज्ञ का आचार्य क्षत्रिय हो, उसमें हम लोग नहीं आसकते। अब तो विश्वामित्र जी के क्रोध की आग और भी भयानक रूप से भड़क उठी। उन्होंने समझा, देवता भी वशिष्ठ के पक्षपाती बन गये हैं।

किसी भाँति त्रिशंकु का यज्ञ समाप्त हुआ। राजा और विश्वामित्र दोनों प्रसन्न हुये। किन्तु महर्षियों की दृष्टि में उस यज्ञ का कोई मूल्य न था। क्योंकि उसमें एक देवता भी सम्मिलित न हुआ था। त्रिशंकु भी स्वर्ग न जा सका। अब विश्वामित्र जी चिन्ता में पड़ गये। मगर उन्होंने भी अपनी कीर्त्ति की रक्षा का दृढ़ संकल्प कर लिया था। उन्होंने त्रिशंकु को अपना तपोबल देकर उसे स्वर्ग भेजा। किन्तु देवताओं ने

त्रिशंकु को स्वर्ग से नीचे ढकेल दिया। त्रिशंकु जब स्वर्ग से भूमि पर गिरने लगा, तब वह विश्वामित्र का नाम लेकर ज़ोर से चिल्लाया। विश्वामित्र ने अपनी साधना शक्ति से उसे बीच ही में रोक दिया। वह बेचारा न स्वर्ग में जासका और न नीचे ही गिर सका। बीच ही में लटका रहा। क्यों न हो, अभिमान और ईर्षा का ऐसा ही भयंकर परिणाम हुआ करता है।

इस मामले में भी विश्वामित्र जी को नीचा देखना पड़ा। अब उनके क्रोध की आग और भी अधिक भड़क उठी। उन्होंने वशिष्ठ जी के प्रत्येक कामका विरोध करने का संकल्प कर लिया महाराज हरिश्चन्द्र का नाम तो तुमने सुना ही होगा। वे एक बड़े धर्मात्मा और सत्यवादी राजा थे। उन्होंने एक यज्ञ किया। वशिष्ठ जी उस यज्ञ के आचार्य बनाये गये थे। जब वशिष्ठ जी यज्ञ खतम कराकर अपने आश्रम में जारहे थे, तब मार्ग में उन्हें विश्वामित्र जी मिले। विश्वामित्र जी ने वशिष्ठ जी से पूछा कहिये, आप कहाँ से आरहे हैं।

'मैं महाराज हरिश्चन्द्र का यज्ञ करा कर आरहा हूँ, वशिष्ठ ज़ी ने उत्तर दिया—वे एक सत्यवादी राजा हैं। धर्म और पुण्य तो उनकी रग रग में बसा हुआ है।

'बिलकुल झूठ—विश्वामित्र जी ने उत्तर दिया—वह तो बड़ा पापी राजा है। उसकी आप व्यर्थ इतनी प्रशंसा कर रहे हैं। शायद उसने आपको अधिक संपत्ति दान में दी है।

वशिष्ठ जी कुछ न बोले। बोलते ही क्या ? वे तो विश्वामित्र जी की प्रकृति को भली भाँति जानते थे। किन्तु इतने पर भी विश्वामित्र जी से न रहा गया। वशिष्ठ जी के 'मौन' ने मानो उनकी नस-नस में एक आग सी लगा दी। उन्होंने दुखी होकर कहा—अच्छा मैं देखता हूँ हरिश्चन्द्र कितना सत्यवादी है। मेरे देखने के साथ ही साथ सारी दुनिया भी उसके सत्य का रूप भलीभाँति देख लेगी।

बस फिर क्या ? विश्वामित्र जी हरिश्चन्द्र जी के पीछे पड़ गये। विश्वामित्र जी की ही कृपा से हरिश्चन्द्र को चाण्डाल के हाथों बिक कर श्मशान की नौकरी करनी पड़ी। किन्तु अंत में हार विश्वामित्र जी की ही हुई। इसके अतिरिक्त विश्वामित्र जी ने एक राक्षस को ललकार कर वशिष्ठ जी के सौ पुत्रों को मरवाडाला। यह सब विश्वामित्र जी ने इसलिये किया, कि वशिष्ठ जी उन्हें ब्रह्मर्षि मानलें। किन्तु ज्यों ज्यों वे अपने क्रोध की आग प्रज्वलित करते जाते थे, त्यों त्यों वे ब्रह्मर्षि पद से दूर हटते जाते थे। ब्रह्मर्षियों के हृदय में तो दया, क्षमा और करुणा का भंडार होना चाहिये। देखिये न, उदाहरण स्वरूप सामने वशिष्ठ जी मौजूद हैं। इतना सब होने पर भी उनके हृदय में विश्वामित्र जी के प्रति कभी क्रोध की आग न भड़की। वे सदैव क्षमा और दया की प्रतिमूर्ति ही बने रहे। किन्तु इतने पर भी विश्वामित्र जी ने न समझा इतने पर भी उनकी चेतना ठीक रास्ते पर न आई।

जब विश्वामित्र जी का किसी तरह वश न चला, तब वे वशिष्ट जी का प्राण-संहार करने के लिये तैयार होगये। उन्होंने सोचा, हमारे ब्रह्मर्षि बनने के रास्ते में यही एक काँटा है। इसलिये इसे बिलकुल साफ़ ही कर देना चाहिये। बस फिर क्या? एक दिन रात में विश्वामित्र जी वशिष्ठ जी के आश्रम के पास जा पहुँचे और छिपकर उनके प्राण-संहार का मनसूबा बाँधने लगे।

वह पूर्णिमा की रात थी। चाँदनी पृथ्वी पर छिटक कर संसार को शीतल कर रही थी। वशिष्ठजी सोये हुये थे। उनकी स्त्री अरुन्धती उनके पास बैठी हुई थीं। अरुन्धती को चन्द्रमा की यह रात बड़ी सुखद मालूम हुई। उन्होंने वशिष्ठ जी से पूछा—महाराज! क्या कोई ऐसा तपस्वी है, जिसकी तपस्या चन्द्रमा के प्रकाश की तरह सुखदायिनी हो!

हाँ—वशिष्ठ जी ने उत्तर दिया—ऐसे तपस्वी विश्वामित्र जी हैं। विश्वामित्र जी ऐसा साधक संसार में कहीं खोजने पर भी न मिलेगा!

फिर आप उन्हें ब्रह्मर्षि क्यों नहीं मानते महाराज! अरुन्धती ने पूछा।

विश्वामित्र जी सबसे बड़े तपस्वी तो हैं—वशिष्ठ जी ने उत्तर दिया—किन्तु उनके हृदय से अभी तक क्षत्रिय पन दूर नहीं हुआ है। इसी से वे कभी कभी भयंकर क्रोध

कर बैठते हैं। ब्रह्मर्षि बनने के लिये तो क्षमा और दया की आवश्यकता है।

विश्वामित्र जी आश्रम के बाहर बैठे हुये वशिष्ठ जी के प्राण-संहार की तैयारी कर रहे थे। उनके कानों में भी वशिष्ठजी के ये शब्द पड़े। उनकी चेतना को एक गहरी ठोकर सी लगी। अब वे सोचने लगे, कहाँ मैं, और कहाँ ब्रह्मर्षि वशिष्ठ जी! दोनों की प्रकृति में ज़मीन और आसमान का अन्तर है। मेरे हृदय में ईर्षा है, विद्वेष है, किन्तु वशिष्ठ जी के हृदय में इसके स्थान पर है करुणा और सहानभूति। मैं उनके आश्रम के पीछे बैठकर उनके प्राण-संहार का अवसर ढूँढ़ रहा हूँ, और वे आश्रम में बैठकर मेरी सराहना का पुल बाँध रहे हैं! अब विश्वामित्र जी का हृदय लज्जा से भर गया। उन्होंने अपना हथियार फेंक दिया। वे कुटी में वशिष्ट जी के पास गये। और उन्होंने वशिष्ट जी को श्रद्धा से प्रणाम किया।

वशिष्ठ जी ठहरे सूक्ष्म दर्शी। उनसे विश्वामित्र जी के हृदय की बात कैसे छिपी रह सकती थी? उन्होंने विश्वामित्र जी को देखते ही कहा—आइये ब्रह्मर्षि विराजिये!

विश्वामित्र जी को बड़ा आश्चर्य हुआ। साथ ही प्रसन्नता उनकी रग रग में दौड़ गयी। जिस ब्रह्मर्षि पद के लिये उन्होंने इतना उपद्रव उठाया था वह आज उन्हें अनायास ही मिल गया। अनायास ही क्यों? आज उन्होंने क्रोध और ईर्षा के ऊपर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था न!

विश्वामित्र जी से न रहा गया। उन्होंने वशिष्ठ जी से कहा—महाराज! इतने दिनों तक आपने मुझे ब्रह्मर्षि के नाम से क्यों नहीं संबोधित किया था?

ब्रह्मर्षि के लिये—वशिष्ठ जी ने उत्तर दिया—हृदय में क्षमा, दया, और सहानुभूति का होना अत्यन्त आवश्यक है। अभी तक आपके हृदय में इन गुणों का बिलकुल अभाव था। किन्तु आज वह अभाव पूर्ण रूप से दूर हो गया। इसीलिये आज आप ब्रह्मर्षि-पद के अधिकारी बन गये।

अब विश्वामित्र जी को अपनी भूल मालूम हुई। उन्होंने वशिष्ठ जी से अपने अपराधों के लिये क्षमा मांगी! वशिष्ठ जी भला क्षमा क्यों न करते? वे तो क्षमा की मूर्ति ही थे! विश्वामित्र जी भी उसके बाद उन्हीं की भाँति क्षमा के अनन्य पुजारी बन गये। इसीलिये तो उनका नाम भी संसार में अमिट और अमर बन सका!

चित्रकेतु

बहुत दिनों की बात है। शूरसेन देश में एक राजा राज करते थे। उनका नाम चित्रकेतु था। वह अत्यन्त धार्मिक और प्रजा-सेवी थे। उनकी रग रग में सहानुभूति और करुणा समाई हुई थी। इसी से बहुत से लोग उन्हें देवता भी कहा करते थे। मनुष्य ही नहीं; चेतनाहीन पृथ्वी भी उनके इन गुणों का समादर करती थी।

वे पृथ्वी से जिस वस्तु को उत्पन्न करने के लिये कहते; पृथ्वी उस वस्तु को उसी समय उनके लिये उत्पन्न कर देती थी। एक तरह से उन्होंने पृथ्वी के अन्तरात्मा पर अपना आधिपत्य सा जमा लिया था।

चित्रकेतु हर एक तरह से सुखी थे। राज था, शक्ति थी, और थीं राजमहल में करोड़ों रानियाँ! सभी एक एक से सुन्दरी, एक एक से रूपवती। ऐसा जान पड़ता था; मानो चित्रकेतु का राजमहल सुन्दरियों का एक विस्तृत संसार हो। किन्तु करोड़ों रानियों में से किसी एक की भी सन्तान नहीं थी। सभी वन्ध्या थीं, सभी सन्तान-सुख से वंचित थीं। चित्रकेतु के हृदय में यही पीड़ा सदैव काँटे की भाँति गड़ा करती थी। वे सदैव अपने मन में यही सोचा करते थे कि मैं करोड़ वन्ध्या स्त्रियों का पति हूँ! किन्तु इस पर अपना वश क्या? राजा चित्रकेतु की वह पीड़ा भरी विवशता! क्या वह कहीं लिखी और कही जा सकती है?

एक दिन चित्रकेतु इसी चिन्ता में बैठे हुये संकल्प विकल्प के झूले पर झूल रहे थे। कभी उनकी आँखें, अपने विस्तृत साम्राज्य की ओर जातीं, तो कभी सन्तान से सूने राजमहल की ओर। कभी वे अपने वंश के बुझते हुये दीपक को देख कर काँप उठते, तो कभी संसार की असारता उनके मन में संतोष की एक लहर सी दौड़ा देती! उनकी वह विचित्र दशा जो देखता उसी का हृदय सहानुभूति और करुणा से भर जाता। सौभाग्य से न जाने किस ओर से घूमते घामते अचानक अंगिरा ऋषि भी

उसी ओर जा निकले । चित्रकेतु की उन पर दृष्टि पड़ी। वे उठ कर खड़े हो गये। उन्होंने आदर और श्रद्धा के साथ अंगिरा मुनि की उसी प्रकार पूजा की, जिस प्रकार कोई अपने भगवान की करता है !

दयालु अंगिरा ऋषि ! वे चित्रकेतु की पूजा से अत्यन्त प्रसन्न हो उठे। उन्होंने चित्रकेतु के चेहरे की ओर देख कर कहा—राजन् ! आपका इतना बड़ा साम्राज्य, अनन्त वैभव, और अखण्ड शक्ति ! फिर मैं आपके चेहरे पर चिन्ता और उदासी क्यों देख रहा हूँ ? क्या आपको इतने से संतोष नहीं ? फिर कहिये, और क्या चाहिये ?

भगवन् !—चित्रकेतु ने उत्तर दिया—आप तो योगी हैं ! आपको जब संसार की सारी अदृश्य वस्तुओं का पता है; तब आप मुझसे मेरे हृदय की क्यों पूछ रहे हैं ? क्या आप नहीं देख रहे हैं कि मेरे वंश का दीपक बुझ रहा है ? क्या आप नहीं जानते कि इतने बड़े विशाल साम्राज्य के होने पर भी मेरी आँखें किस सुख को इधर उधर खोजती हुई भटक रही हैं ? भगवान्, यह सब विलास-वैभव आज एक पुत्र के बिना मेरी आँखों में काँटे की भाँति गड़ रहे हैं ! सच पूछिये, तो बिना पुत्र के इस विलास-वैभव का कोई अस्तित्व ही नहीं। जब भगवान् को मुझे सन्तान नहीं देनी थी; तब उन्होंने व्यर्थ ही मुझे यह विशाल साम्राज्य दिया ! आज यही पुत्र के अभाव में मुझे श्मशान की भाँति डरावना बन रहा है !

सहानुभूति से भरा हुआ अंगिरा ऋषि का हृदय! चित्रकेतु की बातों को सुन कर वे बहुत दुखी हुये। उन्होंने उसी समय चरू बना कर हवन किया। हवन से जो चरू बच गया; वह कृत-श्रुति नामक रानी को खाने के लिये दिया गया! चित्रकेतु की रानियों में वही सर्वश्रेष्ठ और अत्यन्त गुणवती थी। अंगिरा ने चित्रकेतु से कहा—राजन् तुम्हारे एक पुत्र उत्पन्न होगा। किन्तु वह हर्ष के साथ ही साथ शोक का भी कारण होगा!

खैर, अभी तो हर्ष है, पश्चात् शोक की बात देखी जायगी। राजा का मन प्रसन्नता से नाच उठा। अंगिरा जी अपने आश्रम की ओर चल दिये। अंगिरा जी की चरू के अद्भुत प्रभाव से कृतिद्युति गर्भवती हो गई। चित्रकेतु ने इस प्रसन्नता में जी खोल कर दान पुण्य करने शुरू किये। कुछ दिनों के पश्चात् ठीक समय पर रानी के गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। समस्त सूरसेन देश के आदमी आनन्द से नाच उठे। जिस ओर देखिये उसी ओर उत्सव! जिस ओर दृष्टि डालिये, उसी ओर उमंग। ऐसा जान पड़ता था, मानों उत्सव और उमंग ने शूरसेन के प्रत्येक घर में जन्म सा धारण किया हो।

राजा और रानी की प्रसन्नता की तो कुछ बात ही न पूछिये! राजा ने अनेक ग़रीबों को भोजन दिया अनेक ब्राह्मणों को सोना, चाँदी वस्त्र दान पुण्य में दिये। पुत्र की मंगल कामना के लिये एक अरब गायें दान में दी गईं। क्यों न हो, चित्रकेतु को बड़े संकटों के पश्चात् पुत्र मिला था न! फिर वे क्यों न उसकी

मंगल कामना के लिये दान पुण्य करें, क्यों न उसकी आयु-वृद्धि के लिये ब्राह्मणों और तपस्वियों के आशीर्वादों का संग्रह करें? वही तो उनके जीवन का अवलंब था, वही तो उनके संपूर्ण सुखों की सीमा था!

ज्यों ज्यों राजकुमार की आयु बढ़ने लगी त्यों त्यों चित्र-केतु और कृतद्युति की प्रसन्नता भी अधिक बढ़ने लगी! किन्तु इसके साथ ही साथ एक दूसरी ओर ईर्षा और डाह की अग्नि भी धीरे धीरे भयंकर रूप धारण करती जा रही थी। ज्यों ज्यों राजकुमार की शैशव-क्रीड़ाओं को देख कर कृतद्युति के मन में प्रसन्नता की लहरें उछलतीं, त्यों त्यों उसकी सौतों के हृदय से डाह की चिनगारियाँ सी भी फूटती जाती थीं! वे बराबर अपने मन में ईश्वर से यह प्रार्थना करती, कि कृतद्युति के सुख का सूर्य अस्त हो जाय!! वह हम लोगों की ही तरह वन्ध्या और संतान-सुख-वंचिता होजाय। वे प्रार्थना ही न करतीं, बल्कि राजकुमार के विनाश के लिये गुप्त रूप से प्रयत्न भी किया करती थीं! !उनका वह प्रयत्न! क्या उसमें राक्षसपन का निवास नहीं था?

चित्रकेतु इन वन्ध्या रानियों की अब अधिक प्रतिष्ठा न करते और उसी को प्रेम की दृष्टि से देखते। अब उनका सारा प्रेम केवल कृतद्युति के लिये था। वे उसी की प्रतिष्ठा करते। राजा की अन्यान्य रानियाँ इस व्यवहार से जल भुन उठीं! उनसे यह न देखा गया, कि कृतद्युति तो संतोष के साथ

जीवन व्यतीत करे, और हम लोग अपने को अपमान की भयंकर ज्वाला में जलायें! बस फिर क्या? वे सब राजकुमार के सर्वनाश के लिये कमर कस कर तैयार होगईं।

किसी को इस कपट-अभिनय का क्या पता? एक दिन राजकुमार राजमहल में सोया हुआ था। उसकी माँ उसे सुला कर किसी दूसरी जगह चली गई। दासी भी राजकुमार को सोता हुआ देख कर एक दूसरे काम में लग गई। कृतद्युति की एक सौत को अच्छा अवसर हाथ लगा। उसने राजकुमार को विष पिलाकर फिर उसी भाँति उसे पलंग पर सुला दिया। अब तो राजकुमार सदा के लिये सोगया। जब अधिक देर के बाद भी उसकी नींद न खुली तब रानी ने दासी से कहा, जा राजकुमार को उठा कर मेरे पास लेआ!

दासी राजकुमार को उठाने के लिये गई। उसने देखा, तो राजकुमार के शरीर में प्राण ही नहीं! वह पछाड़ खाकर भूमि पर गिर पड़ी, और लगी छाती पीट पीट कर रोने। उसका रोना सुन कर कृतद्युति भी दौड़ी हुई उसके पास आई। वह भी राजकुमार को प्राण शून्य देख कर भूमि पर गिर पड़ी। सारे अंतःपुर में हाहाकार सा मच गया। जिसे देखिये उसी की आँखों में आँसू, जिसे देखिये, उसी के चेहरे पर महा विषाद! जैसे चारों ओर से शोक और विपत्ति का महा समुद्र सा उमड़ चला हो।

चित्रकेतु के कानों में भी यह वज्र समाचार पड़ा। वे भी दौड़े हुये महल के भीतर गये। उनकी आँखें नष्ट सी होगई। मस्तक चकरा गया। वे राजकुमार के पास अचेत होकर गिर पड़े। राजकुमार मर गया। राजा चेतना-शून्य होकर भूमि पर पड़े हैं। कृतद्युति की तो मानों छाती विदीर्ण होगई। वह लगी ज़ोर ज़ोर से विलाप करने। राजा की मूर्च्छा जब दूर हुई; तब उन्होंने रानी को पगली की भाँति क्रन्दन करते हुए देखा। वह चारों ओर अपना मुँह फेर कर लोगों से यह पूछ रही थी, बताओ राजकुमार कहाँ गया? क्या तुममें से किसी ने उसे देखा है? अभी तो मैं उसे पलंग पर सुला कर गई हूँ। अभी तो वह हँसता बोलता था! फिर उसे थोड़ी ही देर में क्या होगया? वह अब क्यों नहीं बोलता? क्यों नहीं मेरी ओर आँखें खोल कर देखता? क्यों नहीं हँसता, क्यों नहीं रोता? यह विधि का कैसा खेल है? बताओ, बताओ इसका कारण? क्या कोई न बतायेगा? क्या तुम सब लोग हमसे नाराज़ होगये। किन्तु यदि नाराज़ थे, तो पहले मुझे ही क्यों न मार डाला? हाय, मेरा बच्चा, मेरा लाल, मेरी आँखों का तारा!!

रानी की यह दशा देख कर राजा की वेदना का बाँध भी टूट पड़ा। वे भी पागलों की तरह क्रन्दन करने लगे। सारे राजमहल में जैसे हाहाकार सा मच गया। जिस समय सारा राजमहल शोक सागर में निमग्न था; उसी समय अंगिरा और नारद जी भेष बदल कर राजा के पास पहुँचे। अंगिरा ने राजा के सामने संसार

की असारता का चित्र खींच कर उन्हें समझाया ! जब राजा को कुछ ज्ञान हुआ तब उन्होंने कहा—आप कौन हैं जो मेरे हृदय में अपनी वार्ता से अमृत की वर्षा कर रहे हैं ! न जाने क्यों आप की बातों को सुन कर मेरे हृदय की सारी वेदना चूर हो गई।

अब अंगिरा जी ने भी चित्रकेतु से अपना भेद छिपाना ठीक न समझा। उन्होंने कहा—राजन् मेरा नाम अंगिरा है। मैंने ही आप को पुत्र के लिये वरदान दिया था। और अब मैं आपके पुत्र-वियोग के दुख से मुक्त करने के लिये आया हूँ। ये मेरे साथ स्वयं भगवान नारद हैं। इनकी बातों को सुनकर अवश्य आपको कुछ शान्ति प्राप्त होगी !

बस फिर क्या ? चित्रकेतु अंगिरा और नारद भगवान के चरणों पर दौड़कर गिर पड़े। नारद भगवान ने चित्रकेतु को समझाने के बाद मरे हुये राजकुमार की ओर देख कर कहा—जीवात्मा ! क्या तू देखता नहीं कि तेरे वियोग में तेरे माता-पिता अत्यंत व्याकुल हो रहे हैं। सारे राजमहल में जैसे अन्धकार सा छा उठा है। फिर तू क्यों नहीं, इस शरीर में प्रवेश कर संसार के सुखों का उपभोग करता ?

मुनिवर !—जीवात्मा ने उत्तर दिया—मुझे पता नहीं कि ये रोने विलाप करने वाले मेरे लिये क्यों इतना संताप कर रहे हैं। मेरी न कोई माता हैं, न कोई पिता ! मेरा न कोई भाई है न कोई बंधु। मैं संसार के समस्त प्राणियों से संबंध रखते हुये भी सबसे

अलग रहता हूं। मैं अपने कर्मों के अनुसार तिर्यक और नर योनि में भ्रमण किया करता हूं। मैं किसी का नहीं हूँ और सब का हूँ।

जीवात्मा की बातें सुनकर चित्रकेतु और कृतद्युति का सारा दुख दूर होगया। वे रानियाँ भी अपने मन में अत्यन्त पाश्चा-ताप करने लगीं, जिन्होंने एकमत होकर राजकुमार को विष पिलाया था। क्यों न हो, अंगिरा और नारद जी के उपदेशों का प्रभाव ही तो है!

कृतबोध

वह जाति का ब्राह्मण, धर्म का एक अनन्य प्रेमी था। उसका नाम कृतबोध था। जब वह छोटा था; तभी उसका हृदय संसार की असारता से तड़प उठा। उसके मन में संसार के प्रति एक वैराग्य सा जागृत हो उठा। वह ज्यों ज्यों बड़ा होने लगा; ज्यों ज्यों संसार में प्रवेश करने लगा, त्यों त्यों उसकी विरक्ति भी बढ़ने लगी! अन्त में उससे न रहा गया। उसने अपने माता पिता के पास जाकर वन में जाने के लिये उनसे आज्ञा माँगी!

कृतबोध अपने माता-पिता की आँखों का तारा! फिर वे क्यों, उसे वन में जाने के लिये आज्ञा देने लगे? उन्होंने उसे समझाते हुये कहा, बेटा! हम लोगों को इस बुढ़ापे में छोड़कर कहीं न जाओ। घर में ही रह कर ईश्वर की उपासना करो। तुम्हारी सारी मनोकामनायें पूर्ण होंगी। माता पिता ही ने नहीं,

कृतबोध के मित्रों ने भी उसे समझाया ! उसकी भार्या ने भी उससे फिर कहा, प्राणनाथ कहीं न जाओ। घर में ही रह कर ईश्वर के चरणों में मन लगाओ !' किन्तु किसी का कहना, किसी का रोना और किसी का समझाना उसके दिल पर कुछ प्रभाव न डाल सका। वह सब को अपने वियोग-समुद्र में डूबता हुआ छोड़ कर एक दिन अपने घर से निकल गया।

वह गंगा के किनारे जाकर तपस्या में संलग्न हो गया ! किन्तु उसे वहाँ शान्ति न प्राप्त हुई। कुछ दिनों के पश्चात् वह उस स्थान को छोड़ कर समुद्र समीपस्थ एक निर्जन स्थान में चला गया। वहाँ उसने बारह वर्ष तक कठिन तपस्या की। उसकी तपस्या का वह महान् प्रभाव! हिंसक पशुओं ने अपनी हिंसावृत्ति छोड़ दी। सिंह और हिरण परस्पर के वैर भाव को भूल कर प्रेम-भाव से विचरण करने लगे। सर्पों और नेवलों में हार्दिक मित्रता सी स्थापित होगई। चूहों और बिल्लियों में आपस में प्रेम भाव बढ़ गया। ऐसा जान पड़ने लगा, मानों कृतबोध के आश्रम के आसपास सब प्रेमी जीव ही निवास करते हैं। क्यों न हो, सात्त्विक वृत्ति का प्रभाव ही तो है !!

कृतबोध की वह तपस्या ! संसार का कौन कहे, उसे अपना भी ध्यान न रहा। उसका सारा शरीर दीमकों की मिट्टी के अन्दर छुप गया। उसमें चूहों और साँपों ने अपने बिल बना लिये। किन्तु फिर भी कृतबोध को कुछ ख्याल न हुआ। बरसात

के महीने में जब पानी बरसा; तब उसके शरीर के ऊपर की मिट्टी गलकर बह गई। अब उसका सारा शरीर प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देने लगा। उसके बड़े-बड़े जटा-जूट !! उसमें चिड़ियों ने घोंसले लगाकर अपने अण्डे-बच्चे दे दिये। किन्तु कृतबोध को इसका क्या पता ? उसकी चित्त-वृत्तियाँ तो ईश्वर के प्रेम का प्याला पी रही थीं !

कुछ दिनों के पश्चात् कृतबोध की तपस्या पूरी हुई। उसने समझा, मैंने संसार पर विजय प्राप्त कर ली। उसके मन में अभिमान जागृत हो उठा। वह इसी अभिमान के उन्माद में वन में इधर-उधर परिभ्रमण करने लगा। एक दिन वह समुद्र में स्नान करने के लिये गया। जब वह स्नान करके अपने आश्रम की ओर जा रहा था; तब एक वृक्ष के नीचे एक बगले ने उसके ऊपर बीट कर दिया। बस फिर क्या ? उसके क्रोध की ज्वाला भभक उठी। उसने बगले की ओर क्रोध भरी दृष्टि से देखा। बेचारा बगला जल कर खाक होगया। अब तो कृतबोध का अभिमान और भी अधिक बढ़ गया। उसने सचमुच अपने मन में समझ लिया, कि मेरे समान इस संसार में कोई नहीं !

उसने फिर समुद्र में जाकर स्नान किया। अब उसकी इच्छा हुई कि बस्ती में चल कर लोगों को अपनी तपस्या-शक्ति का चमत्मार दिखाऊँ ! वह बस्ती की ओर चल पड़ा। उसके अभि-मान का वह मद ! उसे सारा संसार-अस्तित्त्वहीन सा दिखाई दे रहा था।

गर्मी के दिन थे। प्रचण्ड लू धूधू करके चल रही थी। नीचे भूमि तपती थी; ऊपर आकाश! ऐसा ज्ञान पड़ता था; मानों आकाश और भूमि के मध्य में किसी ने आग की भयानक भट्टी सुलगा दी हो! वह एक गृहस्थ ब्राह्मण के द्वार पर जाकर खड़ा होगया। वृद्ध ब्राह्मण सोया हुआ था। उसका आज्ञाकारी, नहीं, नहीं भक्त पुत्र उसका पैर दाब रहा था। उसने देखा, द्वार पर एक साधु अतिथि! किन्तु फिर भी वह अपने स्थान से न हटा, उसने अपने पिता का पैर दाबना न छोड़ा। अब तो कृतबोध के शरीर में जैसे आग सी लग गई। उसने आँखों में क्रोध की ज्वाला भर कर पहले उस ब्राह्मण कुमार की ओर देखा, और फिर कहा—क्या तू देखता नहीं, कि इस प्रचण्ड गर्मी में तेरे द्वार पर एक साधु अतिथि खड़ा है? तेरा अंधों का सा यह कार्य तुझे शीघ्र ही बड़ी आपदा में डाल देगा।

मेरा अंधों का सा कार्य!—ब्राह्मण कुमार ने मुसुकरा कर कहा—क्षमा कीजिये, अतिथि महाराज, मेरी समझ में तो आप ही का यह अंधों का सा कार्य है! क्या आप देखते नहीं; कि मैं इस समय अपने पिता की सेवा कर रहा हूँ?

कृतबोध की क्रोधाग्नि में जैसे आहुति सी पड़ गई। उसने कहा—किन्तु तू घर का स्वामी है। तेरा यह कर्त्तव्य है, कि तू मेरा सत्कार कर! मैं कहता हूँ। यदि तू मेरा सत्कार न करेगा, तो तुझे भयंकर हानि उठानी पड़ेगी।

मैं इस घर का स्वामी हूँ!—ब्राह्मण कुमार ने आश्चर्य के स्वर में कहा—नहीं नहीं, महाराज ऐसा न कहिये। मैं तो इस घर का दास हूँ। देखिये, सेवा कार्य में लगा हूँ। स्वामी तो हैं, मेरे पिता जी। वे इस समय विश्राम कर रहे हैं। यदि मैं उन्हें जगाता हूँ; तो उनके विश्राम में बाधा पड़ती है। मुझे भय है, कि कहीं वे आपकी बातों को सुन कर जग न जायँ!

अब कृतबोध आपे से बाहर होगया। उसने ब्राह्मण कुमार की ओर क्रोध भरी दृष्टि से देख कर कहा—जान पड़ता है, तू मेरी तपस्या शक्ति को नहीं जानता। इसीलिये तो तू मेरा निरादर करके विपत्ति को निमंत्रण देता है। अब भी अपने मन में अच्छी तरह विचार ले! मेरे अपमान का फल बड़ा भयंकर होगा!

ब्राह्मण कुमार ने कृतबोध की ओर देखा। उसकी आँखों में महान् तेज था; और थी एक अद्भुत शक्ति! उसने तत्क्षण उत्तर दिया—अतिथि महाराज! मैं आपकी तपस्या-शक्ति को भली भाँति जानता हूँ। मैं जानता हूँ, कि आप अपने अभिशापों से बन रहने वाले बगलों को भस्म करने में बड़े तेज हैं। किन्तु मैं तो वन का बगला नहीं। इसलिये मुझे आपके अभिशापों का भी किंचित मात्र डर नहीं! आप एक साथ ही मुझे चाहे जितने अभिशाप दे दें। मैं सब का दिल खोलकर स्वागत करूँगा! किन्तु आपसे प्रार्थना है कि आप अधिक बातचीत न करें। इससे मेरे पिता की नींद में बाधा पड़ेगी। उनके जगने तक

आप उनकी प्रतीक्षा करें! उनके जगने पर आपकी आतिथ्य सेवा होगी, और होगी बड़ी श्रद्धा के साथ !!

अब तो कृतबोध का जैसे माथा ठनक उठा। वह अपने दिल में सोचने लगा, यह कैसी रहस्य की बात! इस ब्राह्मण कुमार ने बन में होने वाली मेरी उस घटना को कैसे जान लिया? क्या यह कोई अलौकिक पुरुष है?" कृतबोध का हृदय आश्चर्य से भर गया। उसने ब्राह्मण कुमार की ओर श्रद्धा की दृष्टि से देखकर कहा—आपका कहना बिलकुल सच है। मैंने सचमुच बन में रहनेवाले एक बगले को अपने क्रोध की ज्वाला में भस्म कर दिया था। किन्तु क्या मैं तुमसे यह पूछ सकता हूँ, कि तुम्हें यह अलौकिक ज्ञान कैसे प्राप्त हुआ? तुम उम्र में मुझसे छोटे हो तो क्या, किन्तु आज से मैं तुम्हें अपना गुरु मानता हूँ।

आतिथ्य महाराज!—ब्राह्मण कुमार ने उत्तर दिया—आप आकुल न हों। आपको आपके इस प्रश्न का उत्तर भली भाँति मिल जायगा। किन्तु इसके लिये आपको काशी में रहनेवाले तुलाधार नामक एक बहेलिया के पास जाना होगा। वही आपके प्रश्न का उत्तर देकर आपके मन की भ्रान्तियों को नष्ट करेगा! किन्तु आतिथ्य ग्रहण के लिये आज तो आपको यहाँ रहना ही होगा!

ब्राह्मण कुमार का आग्रह! कृतबोध उसे कैसे टाल सकता था? वह तो अब उसका भक्त बन गया था। वह उस दिन वहाँ टिक गया। दूसरे दिन ज्यों ही सबेरा हुआ; त्यों ही कृतबोध

काशी की ओर चल पड़ा। वहाँ पहुँचकर उसने तुलाधार का पता लगाया। उसने तुलाधार के पास जाकर उसे अपने आने का कारण बतलाया। उसकी बातों को सुनकर तुलाधार ने उत्तर दिया—क्या तुम जानते नहीं, कि तुमने अपने माता-पिता की अवज्ञा की है। तुम चाहे कितनी ही तपस्या क्यों न करो, किन्तु तुम कभी भी मुक्ति के अधिकारी नहीं हो सकते! संसार में माता-पिता की सेवा ही सबसे श्रेष्ठ धर्म है! इसलिये जब तक तुम अपने माता-पिता को अपनी सेवाओं से प्रसन्न नहीं कर लोगे तब तक तुम्हारी इस साधना और तपश्चर्या का कुछ भी अर्थ नहीं। देखो, माता-पिता की सेवा ही से मैं घृणित वृत्ति का मनुष्य होते हुये भी पूर्ण काम सा हो गया हूँ !!

तुलाधार की उपदेशपूर्ण बातों से कृतबोध के हृदय में ज्ञान की किरण सी छिटक उठी! वह अपने घर जाकर सच्चे मन से अपने पिता की सेवा में लग गया! माता-पिता की प्रसन्नता और उसकी साधना शक्ति !! दोनों ने एक साथ मिल कर कुछ ही दिनों में उसे संसार का एक अलौकिक महापुरुष बना दिया।

महात्मा जड़ भरत

महात्मा जड़ भरत एक अलौकिक व्यक्ति थे। उनके हृदय में सदैव ज्ञान की ज्योति सी जगमगाया करती थी! उन्हें अपने इसी ज्ञान से पूर्व जन्म की बहुत सी बातें भी याद थीं। वे जब

उन्हें सोचते, और उन पर विचार करते; तब उनके हृदय में विरक्ति की लहरें दौड़ने लगतीं। कहना न होगा, कि वे संसार से विरक्त हो गये। उनका मन न संसार के किसी काम में लगता; और न वे संसार की किसी चीज़ की ओर कभी आकर्षित ही होते। उनसे जैसे संसार से कोई सम्बन्ध ही नहीं था। भरत के भाइयों को उनकी यह संसार-उदासीनता बड़ी बुरी लगा करती थी! किन्तु वश की बात क्या? मन की प्रवृत्तियाँ ही तो हैं!!

भरत के घर में खेती-बारी का काम होता था। भरत से भी खेत की निराई और सिंचाई का काम करने के लिये कहा जाता! भला भरत जी संसार की इन वस्तुओं को क्या जानें? वे अपने भाइयों के कहने से काम में लग तो जाते; किन्तु वह काम बनने के बजाय बिगड़ जाता। भरत के भाइयों को इससे बड़ी परेशानी उठानी पड़ती थी। इसीलिये लोग भरत को जड़ भरत के नाम से पुकारा करते थे। क्यों न हो, स्वार्थी संसार की लीला ही ऐसी अपूर्व होती है। जब किसी व्यक्ति से उसका काम सधता हुआ नहीं दिखाई देता, तब वह उसे निकम्मा समझ कर छोड़ सा देता है। न उसकी ओर किसी की ममता रह जाती है; और न करुणा। चारों ओर से ठोकरें, चारों ओर से अपमान!! इसीलिये तो एक महात्मा ने कहा है कि यदि तुम संसार को अपनी मुट्ठी में करना चाहते हो तो सब से पहले शक्तिशाली और उद्यमी बनने की कोशिश करो।

बेचारे जड़ भरत! उनकी भी यही दशा हुई। संसार ने उन्हें निकम्मा समझ कर अपनी गोद से अलग हटा दिया। न किसी की दया रह गई; न किसी की मया। भाई बन्धु जैसे प्रबल दुश्मन से बन गये। चारों ओर अनादर, चारों ओर अपमान!! बाहर तो अपमान होता ही; घर में भी लोग उन्हें घृणा की दृष्टि से देखते थे। उन्हें सड़े-घुने अनाज के आँटे की रोटी, जिसमें चोकर और भूसी का अधिक अंश मिला रहता था खाने को दी जाती थी! वह भी केवल आधा ही पेट। इसी तरह उन्हें पहनने के लिये मैला, कुचैला और चीथड़ा कपड़ा भी दिया जाता था! वह भी समय से नहीं! बातें तो उन्हें सब की सहनी पड़तीं। कोई उन्हें दुतकारता; कोई उन्हें फटकारता। कोई उन्हें अपशब्द कहता; कोई दिल को बेधने वाली जली कटी सुनाता। बेचारे जड़ भरत का हृदय अपमान से ऊब उठा। वे इसी से अधिकतर बाहर ही बाहर रहा करते थे। वे किसी के सामने हाथ न पसारते। उनके ऊपर कृपा करके उन्हें जो कुछ खाने को दे देता; वे उसी पर संतोष कर लेते। उनका हृदय मान-अपमान से रहित था। लोग उन्हें चिढ़ाते, गालियाँ देते, दुतकारते; किन्तु वे किसी से कुछ न माँगते। सब की बातों को सुनते; और एक विचित्र हँसी के रूप में उनका उत्तर दिया करते थे! उनकी वह रहस्य-मयी अवस्था! क्या किसी को उसका ठीक ठीक ज्ञान हो सका था?

वे चिन्ता से मुक्त थे। संसार की कोई वेदना उनके पास तक न फटकने पाती थी। वे सदैव प्रसन्न रहते थे। इसीसे उनका शरीर अत्यन्त हृष्ट पुष्ट और स्वस्थ्य बना रहता था। लोग उनके हृष्ट पुष्ट शरीर को देख कर आश्चर्य करते। सोचते, जड़ भरत को अच्छी तरह खाने को नहीं मिलता; किन्तु फिर भी वे हमेशा मोटे ताजे बने रहते हैं। उन्हें क्या मालूम, कि प्रसन्नता शरीर का सब से अधिक शक्तिशाली भोजन है। जड़ भरत कभी स्नान न करते। उन्हें जब देखिये, तब वे नंग धड़ंग के रूप में इधर उधर घूमते हुये दिखाई देते थे। वे धूल और कीचड़ों में भी लोटा करते थे। उन्हें कीचड़ों में लोटने से एक तरह का विचित्र आनन्द प्राप्त होता था। उनके भाइयों को जब कभी खेत की रखवाली के लिये कोई आदमी न मिलता; तब वे जड़ भरत को ही यह काम सौंप देते थे। जिस दिन जड़ भरत को खेत की रखवाली का काम सौंपा जाता था; उस दिन खेत का अवश्य कुछ न कुछ नुकसान हो जाया करता था। जड़ भरत किसी को खेत में से जब कुछ चुराते हुये देखते; तब वे उसका बिलकुल विरोध न करते थे। वे केवल एक हँसी हँस कर शान्त हो जाते थे। उस दिन पक्षियों के भी भाग्य जग जाते थे। चिड़ियाँ बड़े आराम से खेत में बैठतीं और दानों को चुग चुग कर अपना पेट भरतीं थीं। जड़ भरत पक्षियों को क्यों दुख देने लगे? दुख-सुख से क्या तात्पर्य? उन्होंने तो दुख-सुख के ऊपर गहरी विजय प्राप्त कर ली थी!

एक दिन एक बड़ी विचित्र घटना होगई ! जड़ भरत अपने भाइयों की आज्ञा से खेत की रखवाली कर रहे थे। उन्हीं दिनों शूद्र जाति का एक चोरों का राजा था। उसका नाम सामन्त था। उसकी कोई सन्तान न थी। उसने संतानोत्पत्ति के लिये एक मनुष्य की बलि देनी चाही। एक मनुष्य पकड़ कर लाया गया। किन्तु न जाने वह कैसे भाग गया ! राजा ने अपने सिपाहियों को उसके खोजने की आज्ञा दी। सिपाही इधर उधर खोज करने लगे, पर कहीं उसका पता न लगा। सहसा राजा के सिपाहियों की दृष्टि जड़ भरत पर पड़ी ! उन सबों ने सोचा, किसी न किसी प्रकार राजा के क्रोध से बचने की कोशिश तो करनी ही चाहिये ! बस फिर क्या ? वे सब जड़ भरत का हाथ-पैर बाँध कर उन्हें राजा के पास ले गये। राजा के सिपाहियों ने उन्हें खूब नहलवाया, उनके शरीर में चंदन लगवाया; उन्हें अच्छे अच्छे कपड़े पहनाये। उनका हर एक तरह से शृंगार किया गया। जब शृंगार समाप्त हो चुका तब उन्हें अच्छा अच्छा भोजन खिलाया गया। इसके पश्चात् वे उस स्थान पर ले जाये गये; जहाँ भद्रकाली की मूर्ति थी, और जहाँ उनका बलिदान होने वाला था।

जड़ भरत मूक की भाँति देवी के सामने बैठ गये। वे अपने मन में क्या सोच रहे थे। कौन जाने ? शायद उस समय भी हँस रहे हों ! कोई आश्चर्य नहीं। उनकी दृष्टि में मृत्यु और जीवन का कोई मोल ही न था। राजा ने ज्यों ही उनका सिर

काटने के लिये अपनी तलवार ऊपर उठाई; त्यों ही देवी की मूर्ति से अग्नि की चिनगारियाँ निकलने लगीं। राजा की उठी हुई तलवार रुक गई। सहसा एक भीषण गर्जना हुई। लोगों ने उस गर्जना के साथ ही देखा, विकट स्वरूप धारिणी देवी! देवी ने आगे बढ़ कर राजा के हाथ से तलवार छीन ली। उन्होंने उस तलवार से उसी का सिर काट डाला। इसके पश्चात् उन्होंने एक एक करके उस चोर राजा के सभी अनुगामियों को भूमि पर सुला दिया। जब रुधिर से उनकी प्यास शान्त हो गई; तब वे जड़ भरत के शरीर को स्नेह से चाटने लगी! उनका वह स्नेह, उनका वह प्रेम!! जड़ भरत का जीवन कृत कृत्य हो उठा। देवी जड़ भरत को निर्भयता की महाशक्ति देकर लुप्त हो गई। उस महाशक्ति से भरत का जीवन और भी अधिक ओजस्वी बन गया; और भी अधिक प्रभावशाली होगया।

इसी भाँति एक दिन एक और बड़ी अनोखी घटना हुई। सिन्धु सौवीर देश में एक राजा राज्य करता था। उसका नाम रहूगण था। एक दिन उसके मन में तत्त्वज्ञान सुनने की इच्छा पैदा हुई। वह पालकी पर सवार होकर कपिल मुनि के आश्रम की ओर चला। उन दिनों बेगार की प्रथा बड़े ज़ोरों में प्रचलित थी। मार्ग में पालकी का एक कहार थक गया। अब राजा क्या करे? उसके सिपाहियों में भी अधिक बेचैनी सी छा गई। सब लगे इधर उधर देखने, सहसा इक्षुमती नदी के किनारे पर सिपाहियों की भरत पर दृष्टि पड़ी! हृष्ट पुष्ट भरत। सिपाहियों को जैसे

कोई अमूल्य वस्तु मिल गई। वे सब दौड़ कर भरत को पकड़ लाये और उन सबों ने उनके गले पर पालकी का डण्डा रखवा दिया। बेचारे सीधे-सादे भरत! उन्होंने तनिक भी इसका विरोध न किया। वे पालकी कन्धे पर रख कर आगे बढ़ने लगे। भरत जीवों को कभी न मारते थे। मारने को कौन कहे, वे कभी किसी को दुख भी न देते थे। वे जब मार्ग में चलते, तब चींटियों की भी रक्षा करते चलते थे। उनके पैर के नीचे कभी कोई चींटी न दबने पाती थी। जब वे राजा की पालकी कन्धे पर लेकर चलने लगे; उस समय भी उन्होंने अपने इस नियम को जारी रक्खा। वे जब कहीं चींटियों को देखते, तब फौरन उन्हें लाँघ कर बचा जाते थे। इससे कभी कभी राजा की पालकी हिल उठती थी, और उसके आराम में विघ्न सा पड़ जाता था। राजा ने इसके लिये कई बार भरतजी को टोंका, किन्तु भरतजी क्यों मानने लगे? उन्होंने चींटियों की रक्षा में न ग़लती की; और न राजा की पालकी ही हिलनी बन्द हुई। अब राजा से न रहा गया! उसका शरीर क्रोध से जल भुन उठा। उसने गरज कर कहा—क्यों रे दुष्ट, क्या तू अपनी आदत से बाज न आयेगा? मैं तुझसे बारबार कहता हूँ, कि ठीक तरह से चल, पर तू कुछ सुनता ही नहीं! क्या तू मुझे मुर्दा समझ रहा है, जो इस तरह कुलांचे मार रहा है! यदि तू अब ठीक तरह से न चलेगा, तो मैं तुझे यम की तरह कठोर बन कर दण्ड दूँगा।

राजन्!—भरत ने उत्तर दिया—मुझे दुख-सुख की चिन्ता नहीं! आप चाहे मुझे जो दण्ड दें। किन्तु मैं तो इसी भाँति मार्ग में जीवों की रक्षा करता हुआ चलूँगा। मेरी दृष्टि में जगत के सभी जीव बराबर हैं। आप राज-शक्ति के मद में अन्धे होकर चाहे जो करें, किन्तु मुझे उसका तनिक भी भय नहीं। मैं भय नाम की वस्तु से बहुत दूर जा चुका हूँ।

जड़ भरत की बातों को सुनकर राजा को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। वह पालकी से उतर कर जड़ भरत के चरणों पर गिर पड़ा। उसने हाथ जोड़कर भरतजी से कहा—महाराज आप कौन हैं? आपने यज्ञोपवीत धारण अवश्य किया है; किन्तु आप ब्राह्मण की तरह नहीं जान पड़ते। आपकी बातें तो एक तत्त्वदर्शी ब्राह्मण से भी अधिक सारगर्भित हैं। क्षमा कीजिये भगवन्! मुझसे भीषण अपराध हुआ। मैं नहीं जानता था, कि आपके इस विचित्र वेश में एक अपूर्व ब्राह्मणत्त्व छिपा हुआ है!

जड़ भरत मान अपमान के भावों से रहित! राजा रहूगण ने उनका तिरस्कार किया; किन्तु फिर भी वे उस पर प्रसन्न ही रहे। उन्होंने रहूगण को अनेक सारगर्भित उपदेश दिये। रहूगण उनके उपदेशों को सुनकर तो जैसे कृतकृत्य सा हो उठा। वे उसे अपने उपदेशों का अमर फल प्रदान कर फिर पृथ्वी पर इधर उधर परिभ्रमण करने लगे।

यह तो हुई भरत के इस जन्म की बात; अब थोड़ा उनके उस जन्म का हाल सुनिये। उनके उस जन्म का हाल भी अत्यन्त

सार-गर्भित और महत्त्वपूर्ण है। अपने पूर्व जन्म में भरत एक प्रतापशाली राजा थे। किन्तु उनके मन में संसार के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो गई। वे सारा राज्य-वैभव अपने पुत्रों को सौंप कर स्वयं तपस्या करने के लिये वन में चले गये। एक दिन सूर्योदय के समय वे सूर्य प्रकाशक वेद मंत्र के द्वारा भगवान हिरण्यमय पुरुष की वन्दना कर रहे थे। इसी समय एक दौड़ती हुई प्यासी हिरनी आई; और नदी में झुक कर पानी पीने लगी। वह अभी एक चुल्लू भी पानी न पी पाई होगी, कि वहीं पास ही एक सिंह बड़े ज़ोर से गर्ज उठा। सिंह का गरजना सुनकर तो हिरनी के प्राण कूँच कर गये। वह पानी पीना छोड़कर छलाँग मारती हुई नदी के उस पार निकल गई। इस हिरनी के पेट में बचा था! डरी तो वह थी ही! जब छलाँग मार कर नदी पार करने लगी; तब उसका गर्भ गिर पड़ा। हिरनी भी इस संसार से चल बसी। बचा नदी में गिर कर जल की धारा में बहने लगा। भरत दूर से यह दृश्य देख रहे थे। उनका हृदय सहानुभूति और करुणा से तड़प उठा। उन्होंने हिरनी के बच्चे को नदी से बाहर निकाला। फिर वे उसे उठा कर अपने आश्रम में ले गये। और उसका यत्न से पालन-पोषण करने लगे। कुछ दिनों के बाद वे उस मृग के बच्चे के प्रेम में इतने संलग्न हो गये, कि उन्हें सारे संसार का ख्याल जाता रहा। वे अपने मन में सोचने लगे, कि इस निरा-श्रित मृग शावक का मेरे अतिरिक्त संसार में और कोई नहीं। वे यह भूल गये कि संसार का मालिक ईश्वर है। और वही

संसार के प्रत्येक जीव का आश्रयदाता भी है! किन्तु हिरनी के बच्चे के प्रति उनकी मोह-माया !! उसने उन्हें भ्रम में डाल दिया।

इधर उनकी मृग के बच्चे में अधिक प्रीति बढ़ी, और उधर उसकी अवस्था आ गई। वे मन ही मन अत्यन्त दुखी हुये। मृग-शावक भी उनके लिये अपना हार्दिक-दुख प्रकट करने लगा। किन्तु वश क्या? एक दिन वे मृग-शावक की मूर्ति देखते-देखते इस संसार से चल बसे। शास्त्रों का मत है, कि मृत्यु के समय मनुष्य की वृत्तियाँ जिस ओर झुकती हैं, उसी के अनुसार वह फिर जन्म भी धारण करता है। भरत की वृत्तियाँ उस समय हिरनी के उस बच्चे में केन्द्रित थीं। इसलिये, उसी के अनुसार उन्हें मृग-योनि में जन्म धारण करना पड़ा। किन्तु उनमें पिछले जन्म की साधना की शक्ति इतनी बढ़ी हुई थी, कि उन्हें उसी के सहारे अपने पिछले जन्म की सारी बातें याद थीं। वे मन ही मन इसके लिये पश्चात्ताप भी किया करते थे। किन्तु अब होता क्या है? अब तो उन्होंने मृग-योनि में जन्म ले ही लिया! कुछ दिनों के पश्चात् मृग-योनि से इनकी मुक्ति हुई; और उन्हें ब्राह्मण का दिव्य स्वरूप मिला। किन्तु इस समय भी उन्हें अपने पूर्व जन्म की सारी बातें याद थीं। इसीलिये तो संसार को घृणा की दृष्टि से देखते थे; इसीलिये तो उन्होंने ईश्वर की उपासना को ही अपने जीवन का मूल धर्म बनाया था!

आयोद धौम्य

आयोद धौम्य का नाम कदाचित् तुमने सुना हो! कई हज़ार वर्षों के पश्चात् आज भी जब लोग गुरु और शिष्य के कर्त्तव्याकर्त्तव्य को लेकर आपस में विवाद करने लगते हैं, तब लोगों के मुख से अनायास ही आयोद धौम्य का नाम निकल पड़ता है। लोग श्रद्धा और सम्मान के साथ यह कह उठते हैं, कि अब देश में आयोद धौम्य ऐसे गुरु कहाँ हैं?

सचमुच आयोद धौम्य एक अलौकिक पुरुष थे। उनके हृदय में अद्भुत ज्ञान का निवास था। वे अपने शिष्यों को जिस भाँति शिक्षा देते; जिस भाँति उन्हें विषयों का निष्णात बनाते; वह संसार के लिये एक अनुकरणीय और आदर्शणीय बात है। उनके शिष्य भी बड़े मेधावी और बड़े प्रतिभाशाली थे। वे आयोद धौम्य में बड़ी उत्कट भक्ति रखते थे!

आयोद धौम्य के शिष्यों में तीन सब से प्रधान थे। एक का नाम आरुणि, दूसरे का उपमन्यु और तीसरे का वेद था। एक दिन आयोद धौम्य ने आरुणि को अपने समीप बुला कर कहा— बेटा! यदि खेत की मेंड़ बाँधने में शीघ्रता न की जायगी तो बड़ा नुक़सान होगा।

गुरु भक्त-शिष्य आरुणि! वह गुरु की आज्ञा शिर पर रख कर खेत की मेंड़ बाँधने के लिये घर से निकल पड़ा। उसने खेत में जाकर मेंड़ बाँधने की बहुत कोशिश की; किन्तु जल के अधिक प्रवाह के कारण मेंड़ न बँध सकी। पानी की धारा उसके

प्रयास को बार बार असफल सी बना देती थी। जब उसका किसी भाँति वश न चला; तब वह स्वयं मेंड़ पर लेट गया ! कदाचित् उसने सोचा; इससे खेत का नुक़सान तो न होगा !!

इधर उसके आने में बड़ी देर हुई। आयोद धौम्य जी चिन्तत हो उठे। उन्होंने अपने दूसरे शिष्यों को बुला कर उनसे कहा— मैंने आरुणि को खेत की मेंड़ बाँधने के लिये भेजा था; किन्तु वह अभी तक; नहीं आया। उसे गये हुये अधिक समय बीत गया। चलो, देखें तो वह वहाँ क्या कर रहा है ?

बस फिर क्या ? आयोद धौम्य जी अपने शिष्यों के साथ वहाँ जा पहुँचे। उन्होंने आरुणि का नाम लेकर उसे कई बार पुकारा। आरुणि अपने गुरु की बोली पहचान कर उठकर खड़ा हो गया। उसने उत्तर दिया—गुरु जी मैंने मेंड़ को बाँधने की बहुत कोशिश की, किन्तु पानी में तेज़ प्रवाह के कारण बार बार अपने काम में असफल हुआ। जब किसी तरह मेरा वश न चला; तब पानी को रोकने के लिये मैं स्वयं मेंड़ पर लेट गया। इतनी देर तक पानी रुका हुआ था। किन्तु मेरे उठ आने से अब वह फिर खेत से बाहर निकल रहा है ! मुझे आप आज्ञा दें, कि मैं अब क्या करूँ ?

आरुणि की बात सुनकर आयोद धौम्य जी बहुत प्रसन्न हुये। उन्होंने कहा—बेटा आरुणि ! तुमने मेरी आज्ञा का जिस भाँति पालन किया है, वह संसार के शिष्य-समाज के लिये एक अनुकरणीय बात है। मैं तुमसे अत्यन्त प्रसन्न हूँ ! मेरी प्रसन्नता

से तुम्हें सारी विद्यायें विना प्रयास ही के आजायँगी। आज मैं तुम्हारा नाम उद्दालक रख रहा हूँ। इसलिये कि तुम मेंड़ को तोड़ कर उठ आये हो। अतः तुम अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहो वहाँ जा सकते हो। आज तुमने सारे प्रतिबंधों पर पूर्ण रूप से विजय सी प्राप्त कर ली!" गुरु की वात सुनकर आरुणि का हृदय प्रसन्नता से नाच उठा। क्यों न हो, उसे ईश्वर सरीखे गुरू की प्रसन्नता का अमूल्य वरदान मिला था न! वह गुरु के चरणों को भक्तिपूर्वक प्रणाम कर अपने घर चला गया।

यह तो हुई आरुणि की बात, अब दूसरे शिष्य उपमन्यु का हाल सुनो। एक दिन आयोद धौम्य जी ने उपमन्यु को अपने समीप बुलाकर कहा—बेटा! तुम प्रति दिन जंगल में मेरी गायों को चराने के लिये ले जाया करो!

उपमन्यु गुरू का अनन्य आज्ञाकारी था! उनका आदेश पालन ही उसके जीवन का महा व्रत था। वह प्रति दिन गायों को चराने के लिये उन्हें जंगल में ले जाने लगा। वह गायों को लेकर प्रातःकाल जाता; और सायंकाल को लौट आता। उसे इस काम में बड़ा आनन्द मिलता, बड़ा सुख प्राप्त होता!

एक दिन आयोद धौम्य जी की दृष्टि उपमन्यु के शरीर पर पड़ी। वह इतना हृष्ट-पुष्ट, इतना मोटा ताज़ा!! आयोद धौम्य जी को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। उन्होंने उपमन्यु से कहा— बेटा। मैं देखता हूँ, तुम्हारा शरीर दिनों दिन अधिक मोटा होता आ रहा है। बताओ, तुम आजकल क्या खाते हो?

गुरूवर !—उपमन्यु ने उत्तर दिया—मैं भिक्षा-वृत्ति से जो कुछ संचय कर पाता हूँ; उसी से अपना जीवन-निर्वाह करता हूँ !

अच्छा !—आयोद धौम्य जी ने कहा—आज से तू बिना मेरी आज्ञा के भिक्षा में संचय किया हुआ अन्न न खाया कर !!

गुरू भक्त उपमन्यु ! वह गुरू की आज्ञा क्यों न मानता ? वह उस दिन से जो कुछ भिक्षा माँगकर लाता; गुरू जी के सामने रख दिया करता था। गुरू जी भिक्षा अपने पास रखवाकर कह दिया करते, जा गायों को चराने के लिये जंगल में ले जा ! बेचारा उपमन्यु क्या करे ? वह दूसरी बार फिर भिक्षा के लिये जाता और जो कुछ पा जाता; उसी पर संतोप कर लेता था।

उपमन्यु पूर्व की ही भाँति बराबर अपने काम में लगा रहा। इससे उसके कार्य-क्रम में तनिक भी बाधा न उपस्थित हुई। वह प्रति दिन प्रातःकाल गायों को चराने के लिये निकल जाता और शाम को ठीक समय पर लौट कर फिर गुरू जी की सेवा में लग जाया करता ! उसका शरीर ज्यों का त्यों मोटा बना रहा। आयोद धौम्य जी को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। एक दिन उन्होंने उपमन्यु से कहा—बेटा ! तुम्हारा सारा भिक्षान्न तो मैं ले लिया करता हूँ। फिर तुम किस तरह अपना पेट भरते हो ?

गुरूवर !—उपमन्यु ने उत्तर—प्रथम बार का सारा भिक्षान्न आपको सौंपकर मैं फिर दूसरी बार भिक्षा के लिये जाता हूं। और जो कुछ पाता हूँ; उसी को खाकर अपना दिन बिताता हूँ !

बेटा !—गुरू जी ने कहा—तुम्हारा यह काम अत्यन्त अनुचित है ! तुम्हारे इस काम से आश्रम-निवासियों की भिक्षा-वृत्ति में अत्यन्त बाधा पड़ती होगी। आज से तू ऐसा न कर !!

उपमन्यु ने मस्तक झुकाकर अपना अपराध स्वीकार कर लिया। उसने मन ही मन प्रतिज्ञा की, कि मर जाऊंगा, किन्तु दूसरी बार भिक्षावृत्ति के लिये न जाऊँगा। वह अपनी इस प्रतिज्ञा पर आरूढ़ होकर गायों को चराने के लिये जाने लगा। किन्तु पेट भरने के लिये कुछ तो चाहिये ही ! वह अब गायों का दूध पीकर अपना पेट भरने लगा। उसके शरीर की मोटाई अब भी कम न हुई। आयोद धौम्य जी को फिर आश्चर्य हुआ। उन्होंने फिर एक दिन उपमन्यु से पूछा !—बेटा ! तुम्हारा सारा भिक्षान्न मैं ले लिया करता हूँ। अब तुम दूसरी बार भिक्षा के लिये भी नहीं जाते। किन्तु मैं देखता हूँ; तुम पूर्व की ही भाँति मोटे ताज़े बने हो ! क्या तुम बता सकते हो, कि अब तुम कौन सी चीज़ खाते हो ?

गुरुवर !—उपमन्यु ने उत्तर दिया—मैं आजकल गायों का दूध पीकर अपना पेट भर लिया करता हूँ !

बेटा !—गुरू जी ने कहा—तुम्हारा यह काम ठीक नहीं। तुम्हें मेरी आज्ञा के बिना गायों का दूध न पीना चाहिये। आज से फिर तू कभी मेरी आज्ञा के बिना गायों का दूध न पीना !!

उपमन्यु ने सिर झुकाकर गुरू की आज्ञा मान ली। वह प्रति दिन जंगल में गायों को चराने के जाता; और शाम को लौट आया

करता था। अब उसने अपना पेट के लिये नया रास्ता निकाला। जंगल में गायों के बछड़े जब दूध पीते और उनके मुख से अब फेन गिरता तब वह उन्हीं फेनों को खाकर अपना पेट भरता था। इससे उसके शरीर की मोटाई ज्यों की त्यों बनी रही। आयोद धौम्य जी को एक दिन फिर आश्चर्य हुआ। उन्होंने उपमन्यु से कहा—बेटा! अब तो तुम्हारे खाने पीने के सारे साधन बन्द होगये। अब न तुम भीख माँगने जाते हो, और न गायों का दूध ही पीते हो! किन्तु फिर भी तुम्हारे शरीर की मोटाई कम न हुई। क्या तुम बता सकते हो कि अब किस चीज़ से अपना पेट भरते हो?

गुरुवर!—उपमन्यु ने उत्तर दिया—बछड़े जब दूध पीते हैं और उनके मुख से जब फेन गिरता है; तब मैं उसी को खाकर अपना पेट भरता हूँ।

बेटा!—आयोद धौम्य जी ने कहा—तुम्हारा यह काम भी अत्यधिक अनुचित है। बछड़े स्वभावतः अधिक दयालु होते हैं। वे जब तुम्हें फेन खाते हुये देखते होंगे, तब जान बूझ कर अपने मुँह से अधिक फेन गिरा देते होंगे। अधिक फेन गिरा देने से उनका पेट अच्छी तरह न भर पाता होगा। इसलिये अब तुम फेन का खाना भी छोड़ दो।

गुरु की आज्ञा! उपमन्यु ने उसे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया। वह प्रति दिन जंगल में गायें चराने के लिये जाता। वह अब न भिक्षा के लिये जाता; न दूध पीता और न बछड़ों के मुँह से गिरा हुआ फेन ही खाता! कई दिने तक तो वह बिना

कुछ खा [illegible] । कैसे [illegible]ल सकता था ? भू[illegible] भयानक ज्वाला ! उसे कैसे स्थिर रहने दे सकती थी ! [illegible]ख से विचलित हो उठा । जब उससे न रहा गया; तब उसने अकौये के पत्ते खा लिये । अकौये के पत्ते खा लेने से उसकी आँखों में भयानक रोग पैदा होगया । वह अन्धा होगया । अब उसे मार्ग ही न सूझता । बेचारा इधर-उधर घूमता हुआ गया, और एक कुँये के अन्दर गिर पड़ा ।

धीरे धीरे दिन बीत गया । सन्ध्या हो आई । सन्ध्या के ऊपर रात ने भी अपना आधिपत्य जमा लिया । पृथ्वी भयानक अंधकार पूर्ण होकर गई । सब लोग अपने अपने घरों में विश्राम करने लगे । किन्तु अभी तक उपमन्यु लौट कर अपने आश्रम में न गया । आयोद धौम्य जी चिन्तित हो उठे और अपने शिष्यों को बुला कर उनसे कहने लगे—उपमन्यु आज अभी तक वन से न लौटा ! दूसरे दिन तो वह कभी गायों को लेकर वन से लौट आता था !

गुरुवर !—आयोद धौम्य के शिष्यों ने उत्तर दिया—जान पड़ता है, उपमन्यु आज जंगल ही में टिक गया ।

ठीक है !—गुरु ने कहा—मैंने उसके भोजन के सभी साधन बन्द कर दिये थे । इसलिये हमारा कर्त्तव्य है, कि हम वन में चल कर उसका पता लगायें ।

यह कह कर आयोद धौम्य जी अपने शिष्यों के साथ वन की ओर चल दिये । वन में पहुँच कर वे उपमन्यु का नाम ले लेकर ज़ोर से चिल्लाने लगे । गुरु की आवाज़ उपमन्यु के कानों में

पड़ी ! उसने भी कुँयें के अन्दर से उत्तर दिया गुरुदेव, मैं यहाँ कुयें के अन्दर हूँ !

कुँयें के अन्दर !—आयोद धौम्य जी ने आश्चर्य के स्वर में कहा—तुम कुँयें में कैसे गिर पड़े बेटा।

गुरुदेव !—उपमन्यु ने उत्तर दिया—आपने मुझे सभी चीजें खाने के लिये मना कर दिया था न! कई दिनों तक मैं निराहार रहा। किन्तु जब भूख की ज्वाला मुझे अधिक सताने लगी; तब मैंने अकौये के पत्ते खा लिये। अकौये का पत्ता खाने से मेरे आँखों में रोग हो गया; और मैं अन्धा हो कर इस कुँये में गिर पड़ा।

बेटा !—गुरुजी ने कहा—तुम अश्विनीकुमारों की स्तुति करो। उनकी कृपा से फिर तुम्हारी आँखें हो जायँगी। और फिर तुम पूर्ववत् देखने लगोगे।

बस फिर क्या ? गुरु की आज्ञानुसार उपमन्यु अश्विनी-कुमारों की स्तुति में संलग्न होगया। उसकी स्तुति से अश्विनी-कुमार प्रसन्न हुये। उनकी प्रसन्नता का वरदान। उपमन्यु की आँखों का रोग दूर हो गया। अश्विनीकुमार ने प्रसन्न होकर कहा—बेटा ! मैं तुम्हें एक चूर्ण दे रहा हूँ इसे तुम खालो ?

भगवन् !—उपमन्यु ने उत्तर दिया—मैं इस चूर्ण को बिना गुरु को दिये हुये नहीं खा सकता। मुझे उन्होंने कुछ भी खाने से मना किया है। मैं उनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता।

बेटा !—अश्विनीकुमार ने कहा—इसने पहले तुम्हारे गुरु ने भी मेरी स्तुति की थी। उनके ऊपर प्रसन्न होकर मैंने
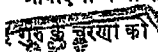
उन्हें भी यह चूर्ण खाने के लिये दिया था। किन्तु उन्होंने तो बिना अपने गुरु की आज्ञा के उसे खा लिया था। जैसा तुम्हारे गुरु ने किया है वैसा ही तुम भी करो।

भगवन्!—उपमन्यु ने उत्तर दिया—मैं इसके लिए आपसे प्रार्थना करता हूँ। आप मुझे विवश न करें। मैं बिना अपने गुरु की आज्ञा के कोई भी चीज़ नहीं खा सकता।

उपमन्यु की ऐसी अविचल गुरु भक्ति! अश्विनीकुमार का हृदय प्रसन्नता से भर गया। उन्होंने कहा—बेटा! मैं तुम्हारी इस गुरु-भक्ति पर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। तुम्हारे गुरु का दण्ड लोहे की भाँति अत्यन्त कठोर है, किन्तु तुम्हारा दण्ड स्वर्ण का होगा। जाओ तुम्हारा चिर कल्याण हो! तुम्हारी आँखें दिव्य ज्योति से संयुक्त हो जायँ।

सचमुच उपमन्यु पहले की भाँति अब फिर देखने लगा। वह प्रसन्न होकर अपने गुरु के पास आया। उसने गुरु जी को प्रणाम कर उन्हें सारी बातें बता दीं। उनकी बातों को सुनकर आयोद् धौम्य जी ने कहा—बेटा अश्विनीकुमार की कही बातें कभी असत्य न होंगीं। उनके कथनानुसार इसमें सन्देह नहीं; कि तुम्हारा चिर कल्याण होगा। वेदों और शास्त्रों पर शीघ्र ही तेरा अधिपत्य सा स्थापित हो जायगा। तेरा अध्ययनकाल अब समाप्त हो गया। अब तू अपनी इच्छानुसार अपने इच्छित स्थान में जा सकता है!!

आयोद् धौम्य जी की बात सुनकर उपमन्यु कृतकृत्य सा हो उठा। गुरु के चरणों को श्रद्धा से प्रणाम कर अपने घर चला गया।